ओंश्रीहरिः ॥

सृष्टिप्रकरण।

और

योग साधन द्वारा लय।

सच्चिदानन्दमय, अनादि, अनन्त ब्रह्म सदा एक रूप हैं; पूर्णज्ञान-रूप वे सदा निष्क्रिय और सृष्टि से अतीत हैं, नतो उनको कोई प्रकार की क्रिया स्पर्श कर सक्ती है, न उन में कोई क्लेशों की सम्भावना है; भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान कालमें वे सदा एक रूप से ही वर्त्तमान हैं। इच्छा अनिच्छा रूप इच्छा से उनही की इच्छामयी शक्ति द्वारा यह संसार उत्पन्न होता है, वर्त्तमान रहता है, और पुनः उनही में लय को प्राप्त होजाता है। सृष्टि की उत्पत्ति और सृष्टि की स्थिति की अवस्था में वे सर्व्वशक्तिमान् परमेश्वर परमात्मा अपने जिस अंश अथवा जिस भाव में सृष्टि को धारण करते हैं, उनकी उस सृष्टि की ऐश्वर्य्यता के कारण उनकी उस अवस्था का नाम ईश्वर है, और जब सृष्टि नहीं रहती अथवा जिस अवस्था में सृष्टि नहीं है, उनकी उस निष्क्रिय और प्रशान्त अवस्था का नाम ब्रह्म है। लीलामय भगवान् की लीलामयी शक्ति द्वारा जो संसार उत्पन्न हुआ है; सर्व्वशक्तिमान् श्रीभगवान् की सर्व्वशक्तिमयी इच्छारूपिणी महाशक्ति का नाम ही महाविद्या, प्रकृति और शक्ति है।

जब सृष्टि क्रिया आरम्भ हुई अर्थात् निष्क्रिय रूप शान्त अवस्था में जब क्रियारूप सृष्टि हुई; तो यह विचारने के योग्य है कि जहां क्रियारूप कम्पन हुआ, और जिस कारणरूपी शक्ति से कम्पन हुआ, इनकी दो स्वतंत्र सत्ता हुई; सृष्टिकर्त्ता ईश्वर, कि जिनकी इच्छा से सृष्टिरूप क्रिया हुई उनका नाम ईश्वर, और उनकी इच्छारूपिणी शक्ति का नाम प्रकृति है (१) जैसे समुद्र में तरङ्ग उठने से समुद्र की और तरङ्ग की स्वतंत्र स्वतंत्र सत्ता होजाती है, उसही प्रकार ईश्वर-रूप समुद्र और जीव रूप तरङ्ग की स्वतंत्र सत्ता हुई। गंभीर, प्रशान्त समुद्र रूपी ईश्वर की सत्ता में तो कोई भी भेद नहीं पड़ा, परन्तु अविद्या के कारण प्रत्येक तरङ्ग ने अपनी स्वतंत्र सत्ता मानली । अविद्या के कारण जीव-रूपी चैतन्य ने जब अपनी स्वतंत्र सत्ता अनुभव करके, अहंकार के वशीभूत होकर स्वतंत्र केन्द्र स्थापन कर लिया, यह अल्पज्ञ रूपी स्वतंत्र स्वतंत्र केन्द्र ही जीव का जीवत्व है। सर्व्वशक्तिमान् भगवान् के आधीन विद्या-रूपिणी महाशक्ति रहकर सदा सृष्टि, स्थिति और लय क्रिया किया करती हैं, परन्तु जीव अवस्था में इससे विरुद्ध बात बनी, अर्थात् जीव-मोहकारिणी अविद्या का प्रभाव जीव पर हुआ, और जीव-रूपी चैतन्य अविद्याके आधीन होकर सृष्टि-

---

१ प्रणव यहीं के कार्य्य से सम्बन्ध रखता है, जहां कोई कार्य्य है वहां अवश्य कम्पन होगा, जहां कोई कम्पन है वहां अवश्य कोई शब्द होगा; सृष्टि के आदि कारण रूप कार्य्य की ध्वनिही ओंकार है; योगी जब इस साम्यावस्था-प्रकृति में मन लेजासक्ता है तब ही वह प्रणवध्वनि श्रवण करने का अधिकारी होसक्ता है।

क्रिया में फँस गया । अब जीव रूपी चैतन्य अपने आपको प्रकृतिवत् मानने लगा। प्रकृति त्रिगुणमयी है, सत्व, रज और तम; अब जीव फँसकर अपने आपको त्रिगुणमय समझने लगा; जीव के इस फँसाने का कारण अनादि अविद्या है, और अविद्या के कारण से ही जीव ने अल्पज्ञता को प्राप्त होके अहंकार के वशीभूत हो अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापन करली इसी अवस्था का नाम जीव, इसी अवस्था का नाम प्रधान और इसी अवस्था का नाम कारण शरीर है ।

सर्वशक्तिमान् परमात्मा ने जब अपनी इच्छा-अनिच्छा-रूप इच्छा से विद्या-रूपिणी अपनी महाशक्ति के द्वारा इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि आरम्भ की तो प्रथम आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी की उत्पत्ति की; यही पञ्च तत्त्व कहाये, और इन्हीं से सारे संसार की सृष्टि बनी । प्रकृति त्रिगुणमयी है, और आदिकारणरूपी अनादि-प्रकृति से ही इन पांचों तत्त्वों की सृष्टि हुई है इस कारण यह भी त्रिगुणात्मक हैं । इन पांचों भूतों के मिले हुए सत्व अंश से बुद्धि, और इनके मिले हुए रज अंश से मन उत्पन्न हुआ; सृष्टि का कारणरूपी अहंतत्त्व पुनः विस्तार होकर अहंकार और चित्त कहाया, इन चित्त और अहंकार दोनों को मन और बुद्धि का अन्तर्विभाग समझना उचित है, अर्थात् चित्त तो मन का अन्तर्विभाग और अहंकार बुद्धि का अन्तर्विभाग है; यही मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का एकत्व-सम्बन्ध अन्तःकरण कहाया । इन पांचों भूतों में जो प्रत्येक का गुण है वही तन्मात्रा कहाती हैं, अर्थात् आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप, जल का रस और पृथिवी का गन्ध;

पांचों तत्त्वों के यह पांचों गुण पञ्च-तन्मात्रा कहाये । इन पांचों तन्मात्राओं से सृष्टि की सहायता में विस्तार को प्राप्त होकर पञ्च-ज्ञान-इन्द्रिय उत्पन्न हुईं; अर्थात् शब्द से श्रोत्र, स्पर्श से त्वक्, रूप से चक्षु, रस से जिह्वा, और गन्ध से घ्राण इन्द्रिय उत्पन्न हुए, यही पांचों पञ्च-ज्ञान-इन्द्रिय कहाये । प्रत्येक तत्त्वों के स्वतन्त्र स्वतंत्र सत्वगुण से पांचों ज्ञान-इन्द्रिय उत्पन्न हुईं ऐसा समझना उचित है । परंतु इन्हीं पांचों तत्त्वों के स्वतंत्र स्वतंत्र रजगुण से पांच कर्म्म-इन्द्रिय प्रकट हुईं, अर्थात् आकाश के रज अंश से वाक्य, वायु के रज अंश से पाणि, तेज के रज अंश से पाद, जल के रज अंश से पायु और पृथिवी के रज अंश से उपस्थ उत्पन्न हुए; और यही पांचों पांच कर्म्म इन्द्रिय कहाईं। इन्हीं पांचों भूतों के विस्तार से सृष्टि उत्पन्न हुई। जब यह भूत गण अलग अलग सूक्ष्मावस्था में होते हैं तब यही अगोचर रहकर अपंचीकृत महाभूत कहाते हैं; और जब यही पांचों भूत आपस में मिल जुलकर स्थूलता को प्राप्त होते हैं अर्थात् उनमें तब आधा तो अपना अंश होता है, और आधा और चारों भूतों का अंश होता है, इस प्रकार यह पांचों भूत स्थूलता को प्राप्त होकर दृष्टिगोचर होते हुए पञ्चीकृत महाभूत कहाते हैं ।

वेद और वेद सम्मत सब शास्त्र ही एक वाक्य होकर यही कहते हैं कि परमात्मा ब्रह्म अर्थात् पुरुष और त्रिगुणमयीमाया अर्थात् प्रकृति इन दोनों की इच्छा और मेल सेही सृष्टि उत्पन्न हुई है । चाहे कोई शास्त्र एक प्रकार वर्णन करे और चाहे दूसरा शास्त्र दूसरी प्रकार वर्णन करे, परन्तु सबों का आशय एक ही है; सबों ने ही सर्वशक्तिमान् पूर्ण ब्रह्म पुरुष को निष्क्रिय और स्वतंत्र

माना है, और त्रिगुणमयी प्रकृति को ही सृष्टि का कारण कर जाना है। सांख्यदर्शन ने सृष्टि की कारण रूपा प्रकृति को चौबीस तत्त्वों में वर्णन किया है, और उसी प्रकृति के विस्तार को वेदान्त-दर्शन ने पञ्चकोष करके वर्णन किया है; जैसे सांख्य-शास्त्र ने चौबीस तत्त्वों से उपराम होने का नाम मुक्ति लिखा है, वैसे ही पञ्चकोषों से अलग होने का नाम वेदान्त शास्त्र ने ब्रह्मसद्भाव कहा है; बात सब शास्त्रों की एक ही है; लक्ष सबों का एक ही है; परन्तु केवल साधन विभाग अर्थात् मुक्तिपद पर पहुँचने का उपाय सब शास्त्रों ने स्वतंत्र स्वतंत्र रीति से वर्णन किया है। प्रथम जब जीव-रूपी चैतन्य अविद्या में फँस कर अपने आपको प्रकृतिवत् मानने लगा वही कारण शरीर है; और कारण शरीर, अन्तःकरण, पञ्चतन्मात्रा सहित पञ्चज्ञान-इन्द्रिय मिलकर सूक्ष्म शरीर कहाया, और सूक्ष्म शरीर के साथ जब पञ्चीकृत महाभूतों की सहायता से स्थूल-शरीर बना, तो वह सूक्ष्म-शरीर के साथ पञ्च कर्म्म-इन्द्रिय मिलकर स्थूल-शरीर कहाया। यह स्थूल-शरीर जीव के देह-पात के पश्चात् यहीं पड़ा रहता है; और सूक्ष्म-शरीर-विशिष्ट-जीव ही जन्मान्तर प्राप्त करता है। स्थूल-शरीर केवल सूक्ष्म-शरीर का विस्तार मात्र है; जीव जो कुछ कर्म्म करता है, जो कुछ कर्म्म भोगता है और जो कुछ कर्म्म भविष्यत् में भोगने के अर्थ उनका संस्कार संग्रह करता है; वह सब सूक्ष्म शरीर द्वारा अन्तःकरण में ही करता है। जब तक अविद्या की स्थिति है, तब तक जीव रूपी चैतन्य अपने आपको अन्तःकरण करके माने हुए है, जब तक उसका मानना है तब तक उस अन्तःकरण के काम में उसका फँसना भी रहेगा, और जब तक यह भ्रम मूलक

सम्बन्ध रहेगा तब तक नाना सुख दुःख रूपी कर्म्मों में फँसता हुआ जीव आवागमन रूपी चक्र-पथ में भ्रमता रहेगा ।

"योग" शब्द का अर्थ जोड़ना है; अर्थात् जीवरूप चैतन्य जो अविद्या में फँसकर परमात्मा परब्रह्म से भिन्न होरहा है, उसकी इस भिन्नता को दूर करके उसके पहले रूपमें उसको लाकर पुनः जहां से निकला था वहीं पहुंचा देने का नाम योग कहाता है; अर्थात् जीवात्मा को परमात्मा में जोड़ने का नाम योग है । इस प्रकार जीव को मुक्तिपद में पहुंचने के अर्थ वेदों व शास्त्रों में जितने प्रकार के साधन वर्णन किये गये हैं, वे सब चार विभाग में विभक्त किये गये हैं, यथा-मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राज-योग । शास्त्रोक्त किसी मंत्र का जप और शास्त्रोक्त किसी रूप का ध्यान करते करते चित्त वृत्ति-निरोध द्वारा मुक्तिपथ में अग्रसर होने का नाम मंत्रयोग है, शारीरक क्रिया द्वारा चित्त-वृत्ति निरोध करके मुक्तिपथ में अग्रसर होने का नाम हठयोग है; षट्चक्रभेद द्वारा बहिर्मुखी शक्ति को ब्रह्माण्ड में लय करके मुक्तिपथ में अग्र-सर होने का नाम लययोग है और केवल बुद्धि की सहायता से ब्रह्मविद्या विचार द्वारा चित्त—वृत्तियों से उपराम होके मुक्तिपथ में अग्रसर होने का नाम राजयोग (१) है। जिस मूल भित्ति पर यह चारों साधन मार्ग स्थित हैं उसका विवरण छत्रों दर्शन पुष्ट करते हैं; उन दर्शनों में से योगिराज महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन ने साधन-मार्ग के क्रिया-सिद्धांश को भलीभांति सार्व-

१ इन चार प्रकार के साधनों का विस्तारित विवरण "योग साधन चतुष्टय" नामक ग्रन्थ अथवा स्वतंत्र स्वतंत्र आचार्य्यों की स्वतंत्र स्वतंत्र संहिताओं में द्रष्टव्य है ।

भौम दृष्टि से वर्णन किया है। सूत्रकार महर्षि ने अपने दर्शन-ग्रन्थ को चार भाग में विभक्त किया है; प्रथम भाग में योग अर्थात् समाधि का वर्णन किया है. द्वितीय भाग में योग के अनुकूल और योग के प्रतिकूल गुण और क्रियाओं का वर्णन किया है, तृतीय में समाधि की अवस्थाओं का वर्णन है, और चतुर्थ भाग में कैवल्य अर्थात् योग-साधन के लक्ष्य का वर्णन किया है।

सृष्टि की क्रिया से लय की क्रिया विपरीत है, अर्थात् अनुलोम से सृष्टि होती है और विलोम से लय होता है। यह पूर्व ही कह चुके हैं कि ईश्वर से प्रकृति, प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी और तद्पश्चात् इनके ही विस्तार से समस्त संसार उत्पन्न हुआ है, परन्तु लय होते समय इस से विपरीत होगा; अर्थात् संसार का भावान्तर होकर पृथिवी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश महत्तत्त्व में, महत्तत्त्व प्रकृति में और प्रकृति ईश्वर में लय होकर ब्रह्मभाव की प्राप्ति होगी। योगशास्त्र में यही सिद्ध कियागया है कि अन्तःकरण ही सृष्टि और लय करने का कारण स्थल है; जैसे अन्तःकरण वृत्ति के साथ वहिर्जगत् का सम्बन्ध होने से सृष्टि का विस्तार होता है, वैसेही अन्तःकरण-वृत्तियों के निरोध करने से लय रूपी मुक्ति पद की प्राप्ति होती है। अब विचारना उचित है कि सृष्टि में अन्तःकरण की कौन कौन सी वृत्तियां रहती हैं और योग-शास्त्रोक्त मुक्तिपद के प्राप्त करने के अर्थ उन वृत्तियों में किस किस प्रकार का बदल होता है। सत् असत् अर्थात् पाप पुण्य के विचार

से वृत्तियों के दो भेद हैं, यथा क्लिष्ट और अक्लिष्ट, क्लिष्ट वृत्ति वे कहाती हैं कि जिनके द्वारा जीव दुःखदायक पाप संग्रह करता है, यथा–काम, क्रोध, हिंसा, अहंकार और द्वेष आदि; और अक्लिष्ट वृत्ति वे कहाती हैं जिनसे जीव सुखदायक पुण्य संग्रह करता है, *यथा—दया, मैत्री, सरलता, क्षमा और शीलता आदि ।* जैसे सत् असत् भेद से अन्तःकरण की वृत्ति के दो भेद हैं, वैसे ही गुण भेद से उनके तीन भेद हैं । प्रथम, तमगुण की वृत्ति वह है कि जिस समय मन में चैतन्य अर्थात् ज्ञान का भाग बहुत कमहो और मन अपने ही स्वभाव से नाचता हुआ कहीं से कहीं अपने आपही उन्मत्त हुआ फिरता हो, जैसे बे लगाम का घोड़ा; मन की उस अवस्था का नाम मूढ़ है । दूसरी, रज गुण की वृत्ति वह कहाती है कि जब मन किसी विशेष लक्ष के अवलम्बन से बुद्धि-युक्त होकर सत् असत् विचार में प्रवृत्त होता है, अर्थात और कहीं न भटक कर एकही काम में लगा रहता है, मन की इस अवस्था का नाम क्षिप्त है। और तीसरी, सत्वगुण की वृत्ति वह कहाती है कि जब अन्तःकरण इन दोनों वृत्तियों से अलग होकर ठहर जाता है अर्थात् न उस में मन की उन्मत्तता ही रहती है और न बुद्धि का विचार ही रहता है इस शून्यगत वृत्ति का नाम विक्षिप्त है; यह विक्षिप्त वृत्ति जीव में बहुत थोड़ी देर के लिये कभी कभी हुआ करती है । यह मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त जीव की स्वाभाविक वृत्तियां हैं, अर्थात् जिस अन्तःकरण में जो गुण अधिक होगा उस में उस ही प्रकार की वृत्ति अधिक हुआ करेगी; तामसी अर्थात् आलसी पुरुषों में मूढ़वृत्ति, राजसी अर्थात् कर्म्मठ पुरुषों में क्षिप्त वृत्ति, और साधु गणों में विक्षिप्त

वृत्ति अधिक हुआ करती है। क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्ति से मूढ़; क्षिप्त और विक्षिप्त वृत्तियों का एक ही सम्बन्ध है; अर्थात् सत् असत् भेद से सत्व और तमगुण यही दोनों प्रधान हैं, बीच का रजगुण एक सहायक मात्र है; अर्थात् रजगुण जब तमगुण की ओर चलने लगता है उस समय अन्तःकरण में क्लिष्ट अर्थात् पाप-जनक वृत्तियों का उदय होता है, उसी प्रकार रजगुण जब सत्वगुण की ओर चलने लगता है तब ही अन्तःकरण में अक्लिष्ट अर्थात् पुण्य-जनक वृत्तियों का उदय हुआ करता है। योगशास्त्र यही सिद्ध करता है कि जब मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त रूपी पाप और पुण्य-जनक वृत्तियां कुछभी अन्तःकरण में न उठें, तो उस वृत्ति-शून्य निरुद्ध अवस्था से मुक्ति की प्राप्ति होसक्ती है। इस प्रकार से मुक्तिपद की साधक रूपी निरुद्ध-वृत्ति के लाभ करने के अर्थ योग्यशास्त्र ने एक पंचम वृत्ति निकाली है, जिसका नाम एकाग्र है; यह एकाग्रवृत्ति साधक गणों में ही उत्पन्न होसक्ती है। जब अन्तःकरण में केवल ध्याता अर्थात् ध्यान करनेवाला, ध्येय अर्थात् लक्ष्य और ध्यान अर्थात् ध्यान करने की शक्ति, इन तीनों के अतिरिक्त और कुछ भी अनुभव न रहे, अन्तःकरण की उस स्थिर अवस्था का नाम एकाग्र है। इसी प्रकार इस एकाग्रवृत्ति की दृढ़ता होजाने से शनैः शनैः अन्तःकरण में ध्याता, ध्यान और ध्येय का नाश होकर वह निरुद्ध अवस्था को प्राप्त होजायगा; अन्तःकरण निरुद्ध अवस्था में वृत्ति शून्य होने से उस की निर्मलता के कारण जीव भगवत्-साक्षात्कार करके मुक्त हो जायगा। इस प्रकार जीव की स्वाभाविक त्रिगुणमयी वृत्तियों को एकाग्रता रूप योग-साधन से दबाकर, निरुद्ध अवस्था में

पहुंचकर, योग-क्रिया द्वारा जीव मुक्ति प्राप्त करसक्ता है। अन्तः-करण जब वहिर्मुख होकर तन्मात्रा और इन्द्रियों की सहायता से किसी विषय में लगजाता है, तबही वह उस विषय के रूप को धारण करने से विषयवत् होकर विषय में फँसजाया करता है; परन्तु जब एकाग्रवृत्ति के साधन से अन्तःकरण की यह चंचलता दूर होजायगी, तो वह पुनःवहिर्मुख होही नहीं सकेगा; तद् पश्चात् जब अन्तःकरण की पूर्ण स्थिरता होने से निरुद्ध-वृत्ति का उदय होगा, तब ही वह आत्म-साक्षात्कार करने में समर्थ होजायगा। इसी एकाग्रवृत्ति की वृद्धि करते करते निरुद्ध-वृत्ति में पहुंचजाने को ही साधन कहते हैं, इसी निरुद्धता-रूपी अन्तःकरण की वृत्ति शून्य करने का नाम ही योगशास्त्रोक्त योग कहाताहै

जैसे पक्षी एक पंख द्वारा नहीं उड़सकता; अर्थात् जब तब उस के दोनों पंख कार्य्यकारी नहीं तब तक उड़ने की शक्ति नहीं होगी; उसी प्रकार साधक में जब तक साधन और वैराग्यरूपी दो पंख नहों, तब तक वह मुक्तिरूपी स्थान में गमन नहीं करसकेगा। प्रकृति परिवर्तन शील है, इसकारण उससे बनाहुआ यह संसार क्षण भंगुर है; चाहे यह लोक हो चाहे परलोक; चाहे नर भूमि हो चाहे सुरभूमि; सबही तीन गुणों के परिवर्तन के कारण क्षण भंगुर हैं। ऐसा विचार करके जब साधक का अन्तःकरण इस संसार के सब प्रकार के सुख और स्वर्गादि पारलौकिक सुखको अनित्य अर्थात् मिथ्या समझकर उस ओर से मुंह फेर लेता है, वह विषय राग रहित अवस्था ही वैराग्य कहाती है। शास्त्रकारों ने इस वैराग्य के तीन भेद लिखे हैं। जब विवेकरूपी सात्विक बुद्धि के उदय से साधक यह विचारने लगता है कि

यह सब माया का खेल झूठा है, अत इस से वचकर मुक्तिपद की ओर चलना चाहिये, वह प्रथम अवस्था वैराग्य की है; पुनः जब यह वैराग्य-बुद्धि दृढ़ होकर साधक का अन्तःकरण सब पदार्थों को ही दुःखमय देखने लगता है, अर्थात् जैसे वलपूर्वक विष-पान करने में जीव को अतिक्लेश अनुभव होता है वैसेही जब सब सुख ही साधक को दुःखमय विष तुल्य भान होने लगते हैं, तब ही वह वैराग्य की उन्नत-अवस्था द्वितीय अवस्था है, परन्तु सर्व श्रेष्ठ परावैराग्य की अवस्था वह कहाती है कि जिस समय साधक वैराग्य साधन से ऐसी पूर्णता को प्राप्त होगया हो कि उस समय उसके अन्तःकरण ने एकवार ही संसार से मुंह फेरालिया हो; वह वैराग्य की सर्व श्रेष्ठ अवस्था तीसरी अवस्था है। जब परावैराग्य के उदय होने से अन्तःकरण पूर्णरूपेण इच्छाशून्य होजाता है तब वह संसार की ओर देखता ही नहीं; योग-पथ में अग्रसर होते हुए महात्मागणों को नानाप्रकार की दिव्य ऐशी सिद्धियों की प्राप्ति हुआ करती है, जिनके द्वारा योगी चाहे जो कुछ कर सकता है; यह परावैराग्य की ही शक्ति है कि जिससे साधक पुनः सिद्धिरूप विषयों में नहीं फंसते। इस कारण वैराग्य की पूर्णावस्था पर वैराग्य और साधन की पूर्णावस्था अन्तः करण की निरुद्धता इन दोनों का एक ही लक्षण है। इस प्रकार क्लिष्ट रूपी पाप जनक वृत्तियों को शनैः शनैः अक्लिष्टरूपी पुण्यजनक वृत्तियों से दवाना उचित है; और पुनः वैराग्य अभ्याससे अक्लिष्ट वृत्तियां तक को दवाकर इच्छा रहित होने से मुक्तिपद की प्राप्ति होसक्ती है।

योगशास्त्र ने साधन और वैराग्य युक्त पुरुषार्थ के आठ

भेद किये हैं, और वेही योगके आठ अंग कहाते हैं; यथा—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य्य, ईश्वर-विश्वास, लोभ का त्यागना यह यम कहाते हैं । शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वरभक्ति यह नियम कहाते हैं । इस प्रकार यम और नियम द्वारा जब अन्तःकरण की वृत्ति शुद्ध होजाती है तबही साधक योग-मार्ग में अग्रसर होता है । आसन उन शारीरिक क्रियाओं का नाम है कि जिनके द्वारा शरीर और मन दोनों प्रसन्न रहते हैं; अर्थात् जिस सुगम रीति में बैठने से योग-साधन ठीक बनता हो । रेचक, पूरक और कुंभक द्वारा शनैः शनैः प्राणवायु पर आधिपत्य जमाने का नाम प्राणायाम क्रिया है; अर्थात् मन से वायु का साक्षात् सम्बन्ध है इस कारण प्राणवायु वशीभूत होने से मन आपही वशीभूत होजाता है । जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को सकोड़ लेता है उसी प्रकार विषयों से इन्द्रियों को सकोड़ लेने का नाम प्रत्याहार है । पञ्चतत्त्वादि सूक्ष्म विषयों में मन को ठहराने का नाम धारणा है; अर्थात् धारणा अभ्यास के समय योगी अन्तर्जगत् में भ्रमण करने लगता है । भगवत् रूप को ध्यान करने का नाम ध्यान है अर्थात् ध्यानावस्था में ध्यान की सहायता से ध्याता और ध्येय का ज्ञान रहता है; यह ही द्वैत अवस्था ध्यान की है । धारणा, ध्यान और समाधि यह तीन साधन क्रिया द्वारा जब साधक एकही पदार्थ विशेष में युक्त होते साधक की उस अवस्था को संयम कहते हैं, यह संयम-क्रिया सविकल्प समाधि में हुआ करती है । यह संयम साधन की ही शक्ति है कि जिसके द्वारा महर्षि गण त्रिकालदर्शी हुआ करते थे

यह उस संयम-साधन की ही शक्ति है कि जिसके द्वारा महर्षि-गणों ने बिना बहिर्चेष्टा के केवल ध्यानयुक्त होकर ही नाना शरीर विज्ञान एवं ज्योतिष आदि नाना बहिर्विज्ञानों को आविष्कार किया था। संयम सम्बन्धीय इन साधनों का वर्णन विभूति-पर्व में आया है। समाधि उस अवस्था का नाम है कि जब ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीनों की स्वतंत्र सत्ता मिटकर एक रूप हो जाय और सिवाय परमात्मा के और दूसरा भाव न रहे। इस प्रकार संयम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार यह पांचों बहिर्जगत् के साधन हैं; और धारणा, ध्यान और समाधि यह तीनों अन्तर्जगत के साधन हैं; और इस प्रकार सुकौशलपूर्ण योग के आठ अंगों का साधन करते करते साधक शनैः शनैः अंत करण को निरुद्ध करता हुआ कैवल्य रूपी मुक्तिपद को प्राप्त करलेता है।

पूज्यपाद पतञ्जलि मुनि कृत "योगदर्शन" सकल प्रकार के साधनों की सार्वभौम भित्ति है; अर्थात् साधक चाहे किसी प्रकार का हो, चाहे वह मंत्रयोग का अधिकारी हो, चाहे वह हठयोग का अधिकारी हो, चाहे वह लययोग का अधिकारी हो, चाहे वह राजयोग का अधिकारी हो, चाहे वह भक्त हो, चाहे ज्ञानी, चाहे भोगी हो, चाहे त्यागी, योगशास्त्र सब प्रकार के जीवों के लिये कल्याण-पथ दिखा चुका है। चार प्रकार के योगसाधन मार्ग और नाना प्रकार के साम्प्रदायिक-साधन मार्ग, और भक्ति साधनादि सब इस ही योगशास्त्र की प्रदर्शि[त] भित्ति पर स्थित हैं। अष्टांग योग के अतिरिक्त और भी कई [प्रका]र से योग की प्राप्ति हो सक्ती है, इसका वर्णन भी योग-[दर्शन] में भली भांति आचुका है। जीव-हितकारी महर्षिजी ने

यह प्रमाणित कर दिया है कि अष्टांग योग ही सीधा पथ है; परन्तु इसके अतिरिक्त भी ईश्वरभक्ति का अभ्यास, प्रणव आदि मंत्र का जप, प्राणायाम साधन, पञ्चतन्मात्रा रूपी दिव्य विषयों में मन का लय-साधन करना, ज्योतिःआदि भगवत् रूप का ध्यान, मन की शून्यता अभ्यास और अपनी इच्छा अनुसार शुद्ध मूर्तियों में मन लगायकर ध्यान करने से भी शनैः शनैः अन्तःकरण एकाग्र होजाता है; और इस प्रकार एकाग्र होता हुआ निरुद्ध-अवस्था को प्राप्त करके जीव मुक्तिपद को पहुंच सक्ता है। चाहे कोई किधर से ही चलो योगशास्त्र की बताई हुई एकाग्र-भूमि से निरुद्ध-भूमि में पहुंचने का नाम ही साधन है ।

योगशास्त्र ने समाधि के दो भेद किये हैं; यथा-सविकल्प समाधि और निर्विकल्प समाधि। सविकल्प समाधि में साधक का अन्तःकरण निरुद्ध होजाने से वह भगवत् साक्षात्कार करने लगता है; परन्तु दर्शन करना तब बना रहता है अर्थात् समाधि की उस पूर्व अवस्था में जीव को आत्म साक्षात्कार तो होजाता है, परन्तु उस अवस्था में कुछ द्वैत का भेद बना रहता है। और निर्विकल्प समाधि वह कहाती है जहां प्रकृति का पूर्ण रूपेण ही लोप होकर जीव ब्रह्म की एकता स्थापन होजाय, अर्थात् उस समय एक अद्वितीय सत् चित् आनन्द रूप परमात्मा के और कोई दूसरा भान न रहे यही योग मार्ग का कैवल्य रूपी मुक्तिपद कहाता है, इस स्थान पर आकर वेदोक्त सब मत एक होजाते हैं; यही वेदान्त का सद्भाव है, यही भक्तिमार्ग की पराभक्ति है, यही और २ दर्शनं की अत्यन्त दुःख-निवृत्ति है, और यही वेदोक्त आत्म साक्षात्कार है। इसी अवस्था में जीव के जीवत्व का नाश होजाता है

वह जहां से आया था वहीं पहुंच जाता है, जो था वहीं होजाता है। अनादि काल से उत्पन्न हुई और अनन्तकाल तक रहने वाली यह सृष्टि क्रिया यदिच उस समय भी रहेगी; परन्तु वह जीव कि जिसने योग-साधन रूपी पुरुषार्थ किया था वह योग-साधन से मुक्त होजायगा; और उसके मुक्त होने के कारण उस के अंशकी प्रकृति महाप्रकृति में लय होजायगी; और वह आकाश पतित, पुनरावृत्ति को प्राप्त हुआ वारि बिंदु के नाई परमात्मा रूपी महासमुद्र में लय होजायगा। यह वाक्यातीत, मन की अगोचर मुक्तावस्था ही योग साधन का लक्ष है॥
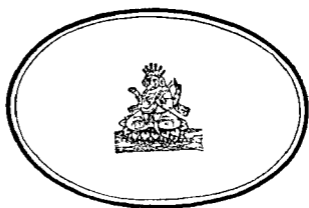
ॐ सदाशिव श्रीपरमात्मनेनमः ।

पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलि कृत-

योगदर्शन ।

एवं

"निगमागमी" नामक भाषा भाष्य ।

प्रथमपाद ।

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अब योग विषय आरम्भ किया जाता है ॥ १ ॥

"अथ,, शब्द मङ्गलवाचक है, अर्थात् मङ्गलाचरण में प्रथम "अथ,, शब्द लाते हैं। जब कभी कोई नया विषय आरम्भ किया जाता है तो भी प्रथम में "अथ,, शब्द का प्रयोग करते हैं; जितने दर्शन-शास्त्र हैं वेदार्थ के समझने के अर्थ वे दर्शन अर्थात् नेत्र रूप हैं । प्रत्येक दर्शन-शास्त्र ने वेद आशय के एक एक दिक् को वर्णन किया है; उस ही नियम के अनुसार महर्षि

पतञ्जलि कृत योगदर्शन योगमार्ग का प्रकाशक है; अर्थात् पूज्यपाद महर्षि कुछ इस दर्शन के सृष्टिकर्त्ता नहीं हैं परन्तु वेद के योग अंश के प्रकाशक हैं; इस कारण महर्षिजी ने "अनुशासन,, शब्द का प्रयोग किया है। द्वितीयतः योगशास्त्र सार्व्वभौम मत युक्त है इस कारण से भी अनुशासन शब्द का प्रयोग प्रथम सूत्र में किया गया है। और अब इस सूत्र से योगमार्ग वर्णन का प्रस्ताव कर रहे हैं।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है ॥ २ ॥

"योग,, शब्द का धातुगत अर्थ जोड़ना है; इस ही शब्दार्थ से यह शब्द कई प्रकार के भावों का प्रकाशक है। परन्तु यहां सूत्रकार महर्षि यह प्रकाश करते हैं कि चित्तवृत्तियों के निरोध करने से जो फल की प्राप्ति होती है वही योग है, अर्थात् महर्षिजी ने योग शब्द से उस ही फल को लक्ष किया है। चित्त शब्द से यहां अन्तःकरण से अभिप्राय है, अब विचारना यह है कि अन्तःकरण की साधारण वृत्तियां कै प्रकार की हैं, और उनके रूप क्या क्या हैं और निरुद्ध अवस्था के प्राप्त करने में वृत्तियों का किस प्रकार से बदल होता है? जोकि प्रकृति त्रिगुणमयी है इस कारण मन की साधारण वृत्तियां भी तीन प्रकार की होती हैं। अन्तःकरण की प्रथम वृत्ति को मूढ़ कहते हैं, यह वृत्ति तमोगुण की है; अर्थात् जब मन सत् असत् विचारहीन हो निद्रा, आलस्य, विस्मृति आदि के वश रहकर कुछ से कुछ करता रहता है, जिस प्रकार बे लगाम का घोड़ा या आलसी मनुष्य का चित्त उन्मत्त

हो कहीं से कहीं भागता रहता है, उसी प्रकार जब मन चंचल हो अपने आप नाचता रहता है उसका नाम मूढ़वृत्ति है। दूसरी प्रकार की वृत्ति का नाम क्षिप्त है, यह वृत्ति रजगुणकी है; अर्थात् जब मन किसी एक कार्य्य में लग कर बुद्धि की सहायता से विचार करता हुआ किसी लक्ष का साधन करता रहता है, जैसे लगामका घोड़ा या विचारवान् वा कोई कर्म्म में तत्पर पुरुषके मन की अवस्था हो वह क्षिप्तवृत्ति है। तीसरी वृत्ति का नाम विक्षिप्त है, यह सत्वगुण से उपन्न होती है; अर्थात् जब मन कभी कभी सुख और दुःख, विचार और आलस्य, तमगुण और रजगुण की वृत्ति से अलग होकर सूना हो जाता है वह सत्वगुण की वृत्ति है; यह वृत्ति सांसारिक मनुष्यों में बहुत थोड़ी देर के लिये कभी कभी हुआ करती है। यह तीन प्रकार की वृत्तियां सब मनुष्यों में गुण के भेद से साधारण रीति पर हुआ करती हैं और अपने अपने गुणानुसार न्यूनाधिक होती हैं। इन तीनों प्रकार की वृत्तियों से जब मनुष्य का चित्त उपराम होकर ठहर जाय अर्थात् कोई प्रकार की वृत्ति ही न उठे वही अवस्था चित्त की निरुद्धावस्था कहाती है; और यही योग का लक्ष है। और इस ही निरुद्धावस्था के प्राप्त करने के अर्थ जो उपाय शास्त्रों में कहे गये हैं अर्थात् चित्त की स्वाभाविक वृत्तियों से अलग एक नई प्रकार की वृत्ति निकाली गई है, जो श्रीगुरु महाराज के उपदेश द्वारा साधन करने से ही आती है उस वृत्ति को एकाग्र वृत्ति कहते हैं; जब चित्त में ध्याता, ध्यान और ध्येय इन पदार्थों के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ और कुछ भी नहीं रहता, ध्यान के द्वारा ध्येय पदार्थ में ही ध्याता का लक्ष जम जाने से ही यह वृत्ति होती

है। इस प्रकार से क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ यह अन्त करण की तीन साधारण वृत्ति तथा एकाग्र और निरुद्ध यह दो असाधारण वृत्ति मिलकर अन्त करण की पंच विधि वृत्ति कहाती हैं; प्रथम तीन वृत्तियां तो सब जीव गणों में ही हुआ करती है, किन्तु शेष दो वृत्तियां केवल साधक-गणों में ही होसक्ती हैं। इस रीति से एकाग्र वृत्ति द्वारा जब साधन करते करते ध्याता अर्थात् साधक सिद्ध अवस्था में पहुंच जाता है तब ही उसके चित्त की तीन अवस्थायें एक होजाती हैं, और वही निरुद्ध अवस्था योग का लक्ष है। और उसी अवस्था की सूत्रकारने योग संज्ञा की है।

तदाद्रष्टुस्स्वरूपेवस्थानम् ॥ ३ ॥

तब दृष्टा अर्थात् पुरुष अपने स्वरूप में ही ठहर जाता है ॥ ३ ॥

वह अन्तःकरण ही है कि जिसके साथ पुरुष अर्थात् चैतन्य का सम्बन्ध होने से पुरुष अपने आप को अन्त करणवत् मानने लगता है, और यह मान लेना ही बन्धन का हेतु है। इस अन्त-करण के चार भेद है, (यथा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) जब अन्तःकरण एक विषय से दूसरे विषय में लगातार दौड़ता रहता है और कोई अपना एक लक्ष स्थापन नहीं करता तो अन्तःक-रण के उस भेद को मन कहते हैं, जब वह मन किसी एक पदार्थ विशेष में ठहर जाता है और ज्ञान की सहायता से सत् असत् के विचार में लग जाता है तब अन्तःकरण की वह प्रकाश-वान् अवस्था बुद्धि कहाती है; चित्त अन्तःकरण की वह अव स्था है कि जो मन और बुद्धि के किये हुए कार्यों को स्मरण रखती है अर्थात् जहां जीव के किये हुए प्रत्येक कर्म्म का संस्कार रह-

जाता है; स्मृति भी इस चित्त का अंश है, क्योंकि चित्त में किये हुए कर्म्मों का संस्कार रहता है इस कारण वह बात स्मर्ण हुआ करती है, और यह चित्त की शक्ति है कि जिस के द्वारा जीव के किये हुए कर्म्म उसके साथ परलोक में भी रहते हैं; और अहंकार अन्तःकरण के उस भाव को कहते हैं कि जिस भाव से अन्तःकरण अपने आप को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानने लगता है, अन्तःकरण में उस अहंतत्त्व के जिसकी कि उत्पत्ति से चैतन्य अविद्या में फँसा था विस्तार का नाम ही अहंकार है; अहंकार सब समय अन्त करण में वर्त्तमान रहता है इस कारण से ही स्वतन्त्र स्वतन्त्र अन्तःकरण स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूप से सब समय सृष्टि क्रिया कर रहे हैं। इसी चार प्रकार की वृत्ति मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप अन्त करण के चंचल प्रभाव ही से पूर्ण ज्ञान रूप चैतन्य अपने स्वरूप को अनुभव नहीं करसक्के हैं। जब योग-साधन से अन्तःकरण की सब वृत्तियां ठहर जाती हैं अर्थात् इन चारों भावों में से एक भाव भी नहीं रहता है तब केवल द्रष्टा रूप अर्थात साक्षी रूप जो चैतन्य हैं वही रह-जाते हैं। पूर्ण-ज्ञान रूपी चैतन्य के प्रभाव से ही अन्तःकर्रण कर्म्म कर सकता है, क्योंकि वह चैतन्य ही की शक्ति है कि जिस से जड़ पदार्थ अन्तःकरण चैतन्यमान् हो रहा है, और पूर्व्व कहे हुए सत् रज और तम की वृत्तियों के साथ नाना प्रकार के कर्म्म कर रहा है; अब योग साधन में जब अन्तःकरण निरोध होजायगा, और उस में वृत्ति ही नहीं उठेगी तो उस चैतन्य रूपी पुरुष को फंसानेवाला भी कोई नहीं रहेगा; तो आप ही वह चैतन्य अपने रूप को प्राप्त हो जायँगे। अर्थात् दर्पण पर जब

'तक नाना प्रकार के रंगों का प्रतिविम्ब पड़ रहा था तब तक वह यही समझ रहा था कि मैं उस ही रंग का पदार्थ हूं, परन्तु साधन द्वारा उन सब रंगों का नाश कर दिया जावेगा तो आप ही दर्पण अपने पूर्व रूप को प्राप्त हो जायगा। इस के उदाहरण में तरंग और जलाशय की गति को विचार सक्ते हैं अर्थात् जब तक जलाशयों में तरंग उठा करती हैं तब तक मनुष्य उस में अपना मुंह नहीं देख सक्ता, परन्तु जलाशय की तरंगों की शान्ति होजाने पर शान्त जलाशय में दर्शक अपना मुख भली भांति दर्शन कर सक्ता है। इसी ही प्रकार नाना प्रकार की वृत्ति-युक्त अन्तःकरण का निरोध होने से केवल दृष्टा रूप चैतन्य ही रह जायँगे, और इस अवस्था की प्राप्ति ही योग साधन का लक्ष है; और इस ही प्रकार से वे सच्चिदानन्द रूपी चैतन्य जब अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं वही मुक्ति कहाती है।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

यदि ऐसा नहो तो वे वृत्ति के रूप को प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

"यदि ऐसा नहो,, इस से यह तात्पर्य्य है कि यदि योग-साधन से चैतन्य के निज स्वरूप की प्राप्ति न हो जैसा कि पूर्व्व सूत्र में कह चुके हैं तो वे चैतन्य अन्तःकरण की वृत्ति के साथ वृत्ति के रूप को धारण कर लेते हैं। अब इस सूत्र में इतना विचार करने के योग्य है कि किस प्रकार से चैतन्य वृत्तियों के साथ मिल जाते हैं ? अविद्या के कारण मोह युक्त होकर चैतन्य पहले अपने आपको अन्तःकरण करके मानने लगे, और जब

अन्तःकरण का सम्बन्ध तन्मात्रा और इन्द्रियों के द्वारा किसी विषय में हुआ तो वे अन्तःकरण में फँसे हुए पुरुष इन सुख दुःख रूपी वृत्तियों से फँस कर अपने आपको उसका कर्त्ता और भोक्ता समझने लगते हैं; यथा—यदि किसी पुरुष की दृष्टि में कोई अति मनोहर पदार्थ आवे तो उस पुरुष के अन्तःकरण में उस पदार्थ का चित्र तन्मात्रा और इन्द्रियों के द्वारा पहुंच कर उस अन्तःकरण को प्रफुल्लित करने लगता है, परन्तु उस शरीर में स्थित चैतन्य भी अपने आपको अन्तःकरण करके मान रहे हैं, इस कारण इस सुन्दर विषय से अन्तःकरण को सुख होने से उस चैतन्य ने अपने आपको सुखी कर जाना। और इस भूल से ही जीव रूपी चैतन्य सदा फँसा रहता है।

वृत्तयःपंचतय्यःक्लिष्टाअक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

अन्तःकरण की वृत्तियों के पांच प्रकार के भेद हैं, और वे क्लिष्ट और अक्लिष्ट हैं ॥ ५ ॥

यदिच गुण भेद से अन्तःकरण की वृत्तियां अनन्त हैं परंतु सूक्ष्म विचार करने से उन सबों को पांच प्रकार में ही विभक्त कर सक्ते हैं, और यह भी कहसक्ते हैं कि उनकी दो प्रकार की जाति हैं; यथा—क्लिष्ट और अक्लिष्ट। क्लिष्ट वृत्ति उन पापजनक वृत्तियों को कहते हैं कि जिन से अन्तःकरण को दुःख पहुंचता हो; यथा—हिंसा, द्वेष, क्रोध आदि। और अक्लिष्ट वृत्ति उन पुण्य-जनक वृत्तियों का नाम है कि जिन से अन्तःकरण को सुख पहुं-चता हो; यथा—वैराग्य, दया और सरलता आदि। परन्तु इन

दोनों में विचार इतना ही है कि जब क्लिष्ट वृत्ति उठती हो तो अक्लिष्ट वृत्ति दबजायगी; और जब अक्लिष्ट वृत्ति उठती हो तो क्लिष्ट वृत्ति दबजायगी; इस कारण जिन मनुष्यों में क्लिष्ट वृत्तियां अधिक हैं वेही पापी मनुष्य कहाते हैं । परन्तु मुक्ति के पथ में जब जाना पड़ेगा तो अक्लिष्ट वृत्तियों से क्लिष्ट वृत्तियों को दबाना पड़ेगा और सब प्रकार की वृत्तियों को अर्थात् अक्लिष्ट वृत्तियों तक को भी परा-वैराग्य से दबाना पड़ेगा; जिसका विवरण आगे सूत्रों में आवेगा ॥

प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये वृत्ति हैं ॥ ६ ॥

अर्थात् अन्तःकरण की अनन्त वृत्तियों की सूक्ष्म दृष्टि से विभाग करने से इन ऊपर लिखे हुए पांच प्रकारों में विभक्त कर सक्ते हैं । जिन में से प्रत्येक का स्वतंत्र स्वतंत्र वर्णन आगे सूत्रों में किया जावेगा । यह पांच गुण विषयक वृत्ति और पूर्व्व सूत्र में कही हुई जाति विषयक दो वृत्ति तथा द्वितीय सूत्रोक्त क्षिप्त विक्षिप्त मूढ़ रूपी तीन वृत्तियों को देखकर जिज्ञासुगण विचलित हो सकते हैं, इसकारण कहा जाताहै कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण-भाव के भेद से ही इस प्रकार भेद करके समझाया गया है; यह पाँच वृत्तियां पूर्वोक्त तीन वृत्तियों के ही सूक्ष्म भेद हैं ।

प्रत्यक्षानुमानागमःप्रमाणानि ॥ ७ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम इन से ही प्रमाण हुआ करते हैं ॥ ७ ॥

निश्चयात्मिका बुद्धि अर्थात् यह पदार्थ "ठीक ऐसाही है,,

यह अनुमान करना जिस वृत्ति द्वारा होता है उसको प्रमाण कहते हैं; प्रमाण होजाने के पश्चात् और कोई सन्देह शेष नहीं रहता और इस निःसंदेह वृत्ति को ही निश्चयात्मिका अथवा प्रमाण कहते हैं । मीमांसा-दर्शन ने पदार्थ का छः प्रकार से प्रत्यक्ष अर्थात् प्रमाण किया है यथा--प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अनुपलब्धि और अर्थापत्ति । इसी प्रकार न्याय--दर्शन ने केवल प्रमाण करने में चार ही प्रकार की वृत्तियों की सहायता ली है; यथा प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान । परन्तु सांख्य और योग-दर्शन ने प्रमाण के अर्थ केवल इस सूत्र में कही हुई तीन वृत्तियों को ही स्वीकार किया है। विचारने से यही सिद्ध होगा कि, और दर्शन--कर्त्ताओं ने जो चार अथवा छः प्रकार से प्रमाण को सिद्ध किया है वे और कुछ नहीं हैं केवल इन तीन प्रकारों के ही विस्तार मात्र हैं । वेदार्थ के प्रमाण करने के निमित्त ही छः दर्शनों का जन्म है, परन्तु छःहों दर्शनों ने वेदार्थ प्रमाण करने की गति तीन अवलम्बन की है; यथा उत्तर--मीमांसा और पूर्व--मीमांसा की गति एक रूप है, न्याय और वैशेषिक की गति एक रूपहै और सांख्य और पातञ्जल की गति एक रूप है; प्रत्येक दो२ दर्शन एक एक ही पथ पर चले हैं ।

प्रत्यक्ष प्रमाण उसको कहते हैं कि जब ज्ञान-इंद्रियों के साथ किसी वस्तु का प्रत्यक्ष अर्थात् व्यवधान--रहित--सम्बन्ध पड़े, और ज्ञान--इन्द्रियगण उस वस्तु का साक्षात् अनुभव प्राप्त करें; यथा नेत्रों के सामने दीपक की ज्वाला । अनुमान प्रमाण उसको कहते हैं कि जब किसी वस्तु का पूर्व ज्ञान हो और उस वस्तु के लक्षणों का भी ज्ञान हो, पुनः विना उस वस्तु

के देखे केवल उसके लक्षणों के देखने से ही उस वस्तु का अनुमान से प्रमाण करलिया जाय; यथा-दूरवर्ती पर्व्वत में धूम्र को देखकर अग्नि का प्रमाण करना। और आगम प्रमाण उसको कहते हैं कि आप्त अर्थात् भ्रम रहित सत्-पदार्थ के जानने वाले पुरुष जो सत्-वार्ता उपदेश करें उन्हीं सत्-वाक्यों को प्रमाण मान लेना आगम कहाता है; आगम प्रमाण से प्रायः वेद का प्रमाण ही सिद्ध होता है, क्योंकि वेद ईश्वर-प्रणीत हैं; इस कारण अभ्रान्त हैं। योगदर्शन यही स्वीकार करता है कि केवल इस तीन प्रकार के ज्ञान से ही पदार्थ का प्रमाण ज्ञान प्राप्त होता है ॥

विपर्य्ययोमिथ्याज्ञानमतद्रूपंप्रातिष्ठितम् ॥८॥

विपर्य्यय उस मिथ्याज्ञान को कहते हैं कि जिससे पदार्थ के यथार्थ स्वरूप में और जो स्वरूप के अनुभव में आवे उस में भेद हो ॥ ८ ॥

जिस प्रकार कभी मार्ग चलते हुए मनुष्य को रात्रि में रज्जु देखकर सर्प का भ्रम-ज्ञान होता है, जिस प्रकार मृग को मरीचिका का भ्रम होता है, और जिस प्रकार सीप के देखने से रजत का भ्रम होता है, इसी प्रकार के भ्रम पूर्ण-ज्ञान को विपर्य्यय कहते हैं। सन्देह-पूर्ण ज्ञान को भी विपर्यय-ज्ञान समझना उचित है; क्योंकि यह ज्ञान भी भ्रम-शून्य नहीं है। प्रमाण-ज्ञान से विपर्यय-ज्ञान का खंडन होजाता है।

शब्दज्ञानानुपातीवस्तुशून्योविकल्पः ॥ ९ ॥

केवल शब्द सुनकर बिना विचार-द्वारा ही असम्भव पदार्थ को सम्भव करके मानने को विकल्प ज्ञान कहते हैं ॥ ९ ॥

किसी पदार्थ को सुनकर उस पदार्थ की सत्यता और असत्यता पर बिना बुद्धि जमाये जैसा सुना वैसा ही मान लेने को विकल्प कहते हैं । यथा-संसार कहता है कि " प्रातःकाल सूर्य्य निकलते हैं और सन्ध्या को छिप जाते हैं,, इस बात को सुनकर सूर्य्य के निकलने और छिपने को स्वीकार कर लेना ही विकल्पज्ञान हुआ; क्योंकि वास्तव में सूर्य्यदेव न तो निकलते हैं और न छिपते हैं, पृथिवी की चाल से ही ऐसा दर्शन होता है । यह विकल्पज्ञान भी प्रमाणज्ञान से नाश होजाता है ।

अभावप्रत्ययावलंबनावृत्तिर्निद्रा ॥१०॥

वृत्तियों के अवलम्बन के अभाव को निद्रा कहते हैं ॥ १० ॥

अन्तःकरण की वृत्तियां तब ही तक जाग्रत रह सकती हैं जब तक मन के साथ विषय रूप अवलम्बन बना रहै; जब अन्तः-करण में तमगुण अधिक बढ़जाने से वृत्तियां अवलम्बन से हट आती हैं, वृत्तियों की उसी अवलम्बन—शून्यता को निद्रा कहते हैं । अर्थात् स्वप्न रहित गाढ़ निद्रा में अन्तःकरण की वृत्तियों का कुछ भी अवलम्बन नहीं रहता और वे निष्क्रिय होजाती हैं । परन्तु इस पूर्ण निद्रा अवस्था से यह नहीं समझना उचित है कि उस समय वृत्तियों का लोप होजाता है, क्योंकि निद्रा से उठने के पश्चात् जीव को जो ज्ञान होता है कि "मैं अच्छी तरह सोया,, इस ज्ञान से निद्रावस्था में भी वृत्तियों का निरवलम्बन अवस्था में उपस्थित रहना प्रमाणित हुआ; क्योंकि अच्छी नींद लेते समय यदि अन्तःकरण में

वृत्तियां उपस्थित न रहतीं तो अच्छी नींद लेने का अनुभव कौन करातीं । परन्तु निद्रा में जो स्वप्न अवस्था होजाती है वह यथार्थ निद्रा नहीं है, स्वप्न अवस्था जागने और सोने के बीच की एक ऐसी अवस्था है कि जिस में जाग्रत अवस्था की प्रत्यक्ष, विपर्य्यय और विकल्प इन तीनों प्रकार की वृत्तियों का अनुभव अन्तःकरण के गुण भेद से हुआ करता है; और इसी प्रकार स्वप्न भी मनुष्यों को तीन प्रकार के हुआ करते हैं, यथा-सात्विक स्वप्न, राजसिक स्वप्न और तामसिक स्वप्न । जो सच्चे स्वप्न हैं अर्थात् जिनका फल सच्चा होता है वह सात्विक स्वप्न कहलाते हैं, और वही स्वप्न की उत्तम अवस्था है; जिस समय स्वप्न अवस्था में रजगुण अधिक हो उस समय देखे हुए पदार्थ ही दृष्टिगोचर होते हैं, और यह अवस्था ही स्वप्न की मध्यम अवस्था है; और जब स्वप्न में तमगुण की प्रधानता अधिक होती है तो कुछ से कुछ विचित्र स्वप्न दिखाई देते हैं; प्रायः जीव को ऐसे स्वप्न ही अधिक आते हैं और यही स्वप्न की अधम अवस्था है। दर्शनकर्ता महामुनि का यही तात्पर्य्य है कि स्वप्नावस्था प्रमाण, विपर्य्यय और विकल्प इन तीनों वृत्तियों से रहित नहीं है, परन्तु निद्रावस्था एक स्वतंत्र वृत्ति है, जिस में यह तीनों वृत्तियां नहीं होतीं ।

अनुभूतविषयाऽसंप्रमोषःस्मृतिः ॥ ११ ॥

अनुभव किये हुए पदार्थों को अन्तःकरण से न हटने देने को स्मृति कहते हैं ॥ ११ ॥

प्रमाण, विपर्यय और विकल्प यह तीनों जाग्रत अवस्था की

...त्तियां हैं, और जब यह तीनों वृत्तियां अन्तःकरण में नहीं उठतीं, उसी समय का नाम निद्रा है; परन्तु स्मृति इन चारों अवस्थाओं को स्मरण रखनेवाली वृत्ति है, अर्थात् इन चारों अवस्थाओं के प्राप्त होने में अन्तःकरण को जो स्वतन्त्र स्वतन्त्र अनुभव हुआ था उसको अपना अनुभव मानकर थामे रहना और अन्तःकरण से हटने न देने का ही नाम स्मृति है। अर्थात् अन्तःकरण में जो कुछ अनुभव हुआ करता है उन सबों के संस्कार को स्मरण रखने का नाम स्मृति है; और यही पञ्चम वृत्ति है॥

अभ्यासवैराग्याभ्यांतन्निरोधः ॥ १२ ॥

अभ्यास और वैराग्य से इनका निरोध होता है ॥ १२ ॥

पूर्व्व सूत्रों द्वारा महर्षि सूत्रकार जी ने अन्तःकरण की अनन्त वृत्तियों के पांच विभाग करके वर्णन किये हैं; अब उन वृत्तियों के निरुद्ध करने का उपाय बताते हैं। यह पूर्व्व लिखित सब प्रकार की वृत्तियां अर्थात् जो कुछ वृत्तियां अन्तःकरण में उठती हों वे सब सत्व, रज, तमगुण भेद से अथवा राग, द्वेष और मोह के भेद से उठा करती हैं; इसकारण जब किसी प्रकार की भी वृत्ति अन्तःकरण में न उठे वही योग वा मुक्ति का लक्ष है, और यह अवस्था साधन और वैराग्य से ही प्राप्त हो सक्ती है। यदिच साधन-अभ्यास और वैराग्य-अभ्यास करते समय मोह का अर्थात् तम-गुण का तो नाश होजाता है, परन्तु रज-मिश्रित सत्वगुण तब तक वर्तमान ही रहता है जब तक कि साधन अथवा वैराग्य पूर्ण अवस्था को न पहुंचे अर्थात् अन्तःकरण की वृत्तियां पूर्ण रूपेण निरुद्ध होकर कैवल्य की प्राप्ति न होजाय । महर्षियों ने

साधन और वैराग्य को इस प्रकार से वर्णन किया है कि अन्तः करण रूपी जल प्रवाह के दो पथ हैं; एक नदी कैवल्यरूपी ऊंचे पहाड़ से निकल कर विवेक रूपी भूमि में बहती हुई परम कल्याण रूपी सागर में जा मिलती है, और दूसरी नदी संसार रूपी पर्व्वत से निकल अज्ञान रूपी भूमि में बहती हुई अधर्म्म रूपी समुद्र में जा गिरती है, जल तो उतना ही है परन्तु धारा दो हैं; जब तक संसार के पहाड़ की नदी बहती रहेगी तब तक कैवल्य पहाड़ की नदी आप ही सूखी रहेगी, परन्तु वैराग्य रूपी बन्ध से संसार रूपी नदी के प्रवाह को जितना रोका जायगा और साधन द्वारा उस जल का श्रोत जितना कैवल्य पर्व्वत की नदी की ओर प्रवाहित किया जायगा उतनी ही कैवल्य पर्व्वत की नदी अतिवेग से विवेक भूमि में बहती हुई कल्याण सागर में मिलकर जीव को परम कल्याण प्रदान करेगी; इस रूपक से यह तात्पर्य है कि चित्त-वृति के प्रवाह को यदि तम की ओर प्रवाहित किया जाय तो क्रमशः जड़त्व अर्थात् अधोगति की प्राप्ति होगी; परन्तु यदि उसी चित्त-वृत्ति प्रवाह को केवल सत्व को ओर बहाया जाय तो अन्ततः परम ज्ञान रूपी "कैवल्य पद" की प्राप्ति होजाती है। वेदों ने ऐसा भी कहा है कि जैसे एक पंख द्वारा पक्षी नहीं उड़ सक्ता परन्तु दोनों परों से वह एक स्थान से दूसरे स्थान में जा सक्ता है, इसी प्रकार केवल साधन या केवल वैराग्य से जीव मुक्ति-पथ में नहीं चलसक्ता, वैराग्य से तो संसार के बन्धन को ढीला करता जाता है और साधन से मुक्ति की ओर बढ़ता जाता है; जब तक वहिर्बन्धन शिथिल नहो तब तक वह अन्तर की ओर चल नहीं सक्ता, और यदि बन्धन शिथिल भी होजाय तो

भी जब तक चलने की शक्ति नहो तब तक अन्तर की ओर अग्र-
सर नहीं होसक्ता। इस कारण चित्तवृत्ति- निरोध रूपी मुक्ति के
प्राप्त करने में वैराग्य और साधन दोनों की ही आवश्यकता है।

तत्रस्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

वहां स्थिर रहने के लिये यत्न करना ही अभ्यास है ॥ १३ ॥

वे सत्‌चित्‌आनन्दरूपी परमात्मा निश्चल हैं, परन्तु अ-
न्तःकरण सदा ही चंचल रहने के कारण उनके भाव को ग्रहण
नहीं करसक्ता; परन्तु जब शनैः शनैः अभ्यास द्वारा अन्तःकरण
निर्वात-प्रदीप की नाईं ठहर जाय तब ही उनका प्रकाश प्रकाशित
होजाता है। ऋाचन ऐसे शनैः शनैः अभ्यास को कहते हैं कि
जब अन्तःकरण बल, उत्साह और यत्न पूर्वक उन्हीं परमा-
राध्य परमेश्वर की ओर लगता रहे। गांठ का लगाना और
गांठ का खोलना यह दोनों कर्म्म ही हैं, अर्थात् गांठ लगाना
रूप कर्म्म और गांठ खोलना रूप कर्म्म दोनों में हाथ हिलाना
ही पड़ता है, परन्तु गांठ लगाना रूप कर्म्म से पदार्थ फँस जाता
है और गांठ खोलना रूप कर्म्म से बँधा हुआ पदार्थ खुल जाता
है; इसी प्रकार जीव के स्वाभाविक- कर्म्म और साधन-कर्म्म दोनों
कर्म्म ही हैं, परन्तु त्रिगुण द्वारा कराये हुए जीव के स्वाभाविक कर्म्म
में तो जीव फँसता हुआ आवागमन रूप भूल भुलय्यों में से नि-
कल नहीं सक्ता, परन्तु वेद- विहित साधन- कर्म्म द्वारा साधक
मुक्ति मार्ग में अग्रसर होता हुआ मुक्ति पद को प्राप्त होजाता है;
इस मुक्ति पद अर्थात् योग के लक्ष पदार्थ को प्राप्त करने के लिये
जो कुछ सुकौशल- पूर्ण कर्म्म कियेजायँ वेही साधन हैं।

सतुदीर्घकालनैरंतर्य्यसत्कारासेवितोदृढ़भूमिः १४

वह दृढ़ता युक्त होकर किया जाता है, और जिसमें दीर्घकालव्यापी, श्रद्धायुक्त और अखंडित अभ्यास की आवश्यकता है ॥१४॥

नियमित अभ्यास स्वभाव में परिणत होजाता है, इसही कारण जब तक साधन में दृढ़ता न होगी तब तक वह पूर्ण फलदायक न होगा; क्योंकि दृढ़ता पूर्व्वक साधन करने से नियम बनेगा और नियम पूर्व्वक अभ्यास करने से वह स्वाभाविक होजायगा। शास्त्रों की ऐसी आज्ञा है कि प्रथम सदाचारोंका साधन करके मनुष्य मनुष्यत्व लाभ करता है, पुनः वर्ण और आश्रम-धर्म्मका अभ्यास करता हुआ उन्नत ज्ञान-भूमि में पहुंच जाता है; और जब ज्ञान की प्राप्ति से सत् असत् अर्थात् ब्रह्म और सृष्टि इन दोंनों का ज्ञान उसे होजाता है तबही वह सृष्टि के फंदे से छूट कर मुक्त होना चाहता है; और तद्‌परश्चात् श्रीमद् गुरुजी महाराज की कृपा से अष्टांग-योग आदि नाना प्रकार के साधन द्वारा चित्त-वृत्तियों को निरोध करता हुआ मुक्तिपद को प्राप्त कर सक्ता है; इसी कारण साधन में दीर्घ काल की आवश्यकता है। और नियमित अभ्यास से ही जीव की प्रकृति पलट सक्ती है, अर्थात् उस की वहिर्दृष्टि छूटकर अन्तर्दृष्टि होजाती है; परन्तु यदि नियमित अभ्यास नहो, और उसका अभ्यास मध्य मध्य में खंडित होजाता हो तो उस अभ्यास से उस की प्रकृति वदल नहीं सक्ती, क्योंकि उसकी दृष्टि जब ही अन्तर से वहिर्मुख होगी तब ही वह फिर पूर्व्ववत् फंस जायगा; इसकारण जो कुछ साधन किया जाय वह निरन्तर अर्थात् अखण्डित रूप से

किया जाय तब ही फलदायक होगा । और जब तक शास्त्र, गुरुवाक्य, और साधन में साधक की श्रद्धा नहीं होगी तब तक वह कदापि उस साधन को नियमित कर नहीं सकेगा इस कारण श्रद्धा की भी अतीव आवश्यकता है । इस कारण साधन दृढ़ता, दीर्घकालव्यापी निरंतर अभ्यास और श्रद्धा से हुआ करता है।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्यवशीकार संज्ञावैराग्यम् ॥ १५ ॥

दृष्ट इहलौकिक और अनुश्रविक पारलौकिक विषयों की तृष्णा को वशीभूत करने का नाम वैराग्य है ॥ १५ ॥

दृष्ट अर्थात् इहलौकिक सुख वे हैं कि जिनको जीव अपनी ज्ञान-इन्द्रियों से अनुभव करके उन में फँसकर उनके पाने की इच्छा करता रहता है; यथा–पुत्र कलत्र आदि का सुख, धन ऐश्वर्य का सुख, और नाना प्रकार के क्षणभंगुर वैषयिक सुख। और अनुश्रविक अर्थात् पारलौकिक सुख वे कहाते हैं कि जिन का वर्णन शास्त्रों में पाया जाता है और जिनका भोग इस शरीर के त्याग करने पर प्राप्त होने की आशा है; यथा-स्वर्गादि लोकके नाना प्रकार के दिव्य सुख। क्या इहलोक क्या परलोक, क्या इहलोक का सुख क्या परलोक का सुख, सब ही माया रचित हैं और सब ही क्षणभंगुर हैं; इसकारण जब विचार दृष्टि के उदय होने से इन दोनों प्रकार के सुखों की कुछ भी इच्छा नहीं रहती, और अन्त करण उस ओर से मुख फेर लेता है तब ही

वह वैराग्य कहाता है। जब तक अन्तःकरण में वैराग्य का उदय न हो तब तक उसकी दृष्टि बहिर्मुख ही रहती है, और जब तक अन्तःकरण की दृष्टि बहिर्मुख रहती है तब तक उस में ज्ञान रूप पूर्ण प्रकाश होना असम्भव है; इसकारण जब पूर्ण वैराग्य का उदय होता है और अन्तःकरण अपना मुख बाहिर की ओर से फेरकर भीतर की ओर देखने लगता है तब ही उसको आत्मदर्शन होसक्ता है।

तत्परंपुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥१६॥

तब परमेश्वर का पूर्ण-ज्ञान होजाने से प्रकृति के गुणों में पूर्ण रूपेण अरुचि होजाती है ॥ १६ ॥

प्रकृति के तीन गुण सत्व, रज, तम हैं; परन्तु पुरुष इन से निर्लिप्त अर्थात् तीनों गुणों से अलग है। जब अन्तःकरण बाहिर की ओर से मुख फेर लेता है, तब उस में ईश्वर का पूर्ण प्रकाश होजाता है और तब उसको पुनः बाहिर की ओर अर्थात् प्रकृति के गुणों की ओर देखने की इच्छा ही नहीं होती; पूर्ण ज्ञान का उदय होते ही उसको जब यह प्रत्यक्ष अनुभव होजाता है कि प्रकृति ही दुःख रूपी सृष्टि का कारण है और यह शुद्ध मुक्त पूर्ण-ज्ञान रूपी अवस्था उस से अलग है, और जो कुछ यथार्थ सुख है वह इसी अवस्था में है, तब फिर वह अन्तःकरण कैसे पुनः प्रकृति के गुणों की इच्छा कर सक्ता है। जब तक ऐसा ज्ञान पूर्णता को प्राप्त नहीं होता अर्थात् जब अन्तःकरण की दृष्टि बाहिर से भीतर की ओर फिर तो गई हो परन्तु कभी कभी पूर्व अभ्यास से बाहिर की ओर दृष्टि डाला करता

है उस अवस्था का नाम अपरा-वैराग्य है; परन्तु जब यह ज्ञान रूपी अवस्था पूर्णता को प्राप्त होजाती है अर्थात् उस ज्ञान की निर्विघ्न स्थिति होजाती है तब ही उसका नाम परा-वैराग्य है। और ऐसे परा वैराग्य-द्वारा अन्तःकरण की वृत्तियां सम्पूर्ण रूपेण ही निरुद्ध होजाती हैं तब ही सम्प्रज्ञात समाधि का उदय हुआ करता है।

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सं- प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

सम्प्रज्ञात समाधि वह कहाती है जिस में वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता का भान रहता हो ॥ १७ ॥

अब समाधि का वर्णन किया जाता है; वह समाधि दो प्रकार का है यथा-सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात, अथवा सविकल्प और निर्विकल्प। निर्विकल्प अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि जो कि उत्तम है उसका वर्णन आगे के सूत्रों में किया जावेगा, परन्तु इस सूत्र द्वारा सम्प्रज्ञात अर्थात् सविकल्प समाधि का वर्णन किया जाता है। सविकल्प समाधि में ज्ञाता अर्थात् देखने वाला, ज्ञान अर्थात् अनुभव की शक्ति, और ज्ञेय अर्थात् लक्षवस्तु परमात्मा इन तीनों का ही भान रहता है; और इस अवस्था में जब वितर्क रहै तो वह वितर्कानुगत अवस्था कहाती है, जब विचार रहै तो वह विचारानुगत अवस्था कहाती है, जब आनन्द रहै तो वह आनन्दानुगत अवस्था कहाती है, और जब अस्मिता रहै तो वह अस्मितानुगत अवस्था कहाती है। सम्प्रज्ञात समाधि

में यदिच अन्तःकरण की वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं, परन्तु अ-न्तःकरण उनसे निर्वीज नहीं होता अर्थात् तब अन्तःकरण का भान सूक्ष्म रूप रहता है और इसही कारण ज्ञाता, ज्ञेय, और ज्ञान की स्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्ता भी रहती है। यह दृश्यमान् सृष्टि प्रकृति से रचित है जिसको वेदान्त दर्शन ने माया और सांख्य दर्शन ने प्रकृति कह कर वर्णन किया है; चाहे किसी न किसी रीति पर वर्णन किया हो अर्थात् वेदान्त ने उसको पञ्च कोष करके वर्णन किया हो और सांख्य ने उसे २४ तत्व करके वर्ण-न किया हो, परन्तु सब का यही सिद्धान्त है कि इस स्थूल ज-गत् का कर्त्ता प्रकृति है और पुरुष अर्थात् परमात्मा उससे भिन्न हैं; जब ऐसा विचार किया जाय कि सृष्टि कैसे हुई अर्थात् स्थूल-सृष्टि के विचार को भली भांति विचार करते करते जब सृष्टि से भिन्न परमात्मा का अनुभव होजाता है; अर्थात् समाधि करते समय जब सृष्टि की उत्पत्ति और सृष्टि की स्थिति में बुद्धि को लेजाकर पुनः सृष्टि से भिन्न जो परमात्मा है उनके विचार में प्रवृत्त होना ही वितर्कानुगत अवस्था है ; अर्थात् स्थूल से कारण अन्वेषण करते करते सूक्ष्म में आजाने को वितर्क कहते हैं; इस कारण वितर्क अवस्था में वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता चारों अवस्था रहती हैं। और केवल सूक्ष्म विचार को ही वि-चार कहते हैं, इस अवस्था में बहिर्विषय अर्थात् स्थूल विषय की धारणा नहीं रहती अर्थात् सूक्ष्म रूपेण केवल ज्ञाता अर्थात् जीव, ज्ञान अर्थात् जानने की शक्ति और ज्ञेय अर्थात् परमात्मा इन तीनों काही विचार रहता है; इस अवस्था में विचार, आनन्द और अ-

स्मिता यह तीनों रहती हैं और इस ही अवस्था को विचारानुगत अवस्था कहते हैं। तीसरी अवस्था आनन्द की है; इसमें विचार रहित आनन्द का अनुभव होता है; अर्थात् इस अवस्था में आनन्द और अस्मिता यह केवल दोनों ही रहते हैं, यह ऊपर की दोनों अवस्थाओं से ऊंची अवस्था है; और इस ही को नाम आनन्दानुगत अवस्था है। और चतुर्थ अवस्था वह कहाती है कि जिस में अस्मिता ज्ञान ही रहै अर्थात् केवल अपनी स्थिति के भान के अतिरिक्त और किसी अवस्था का बोध न रहे, यह अवस्था पूर्व-लिखित तीनों अवस्थाओं से बढ़कर है, इसही अवस्था को अस्मितानुगत अवस्था कहते हैं। कदाचित् इस चतुर्थ अवस्था के विचार में जिज्ञासु गणों के हृदय में शंका उत्पन्न हो कि जब इस अवस्था में केवल "अस्मिता" की ही स्थिति है तो इस अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों की संभावना कहां? इस के समाधानार्थ कहा जाता है कि यद्यपि कार्यतः ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का स्वरूप नहीं दिखाई देता, तथापि कारण रूपेण बीज में वट वृक्ष की नाई उन तीनों की स्थिति रहती है और सूक्ष्म विचार से उनका अनुभव भी होता है। यह चारों अवस्था ही सम्प्रज्ञात-समाधि की अवस्था हैं: और इस के पश्चात् की अवस्था को असम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं जिसका वर्णन आगे आवेगा।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वःसंस्कारशेषोऽन्यः॥१८॥

अन्तःकरण की वृत्तियां पूर्ण रूपेण निरुद्ध होजाने से केवल संस्कार शेष रूपेण दूसरी अवस्था है ॥ १८ ॥

दोनों का-
स्मिता यह तीनों रहती हैं और इस ही अवस्था को वि ी पर पहुंच-
ावस्था कहते हैं। तीसरी अवस्था आनन्द की है। हो जाय अर्थात् व-
रहित आनन्द का अनुभव होता है; अर्थात् र उन्मत्त स्तब्ध, और
नन्द और अस्मिता यह केवल दोनों ही प की उस अवस्था का नाम
दोनों अवस्थाओं से ऊंची अवस्था । और जब योगी अपनी पूर्ण अ-
आनन्दानुगत अवस्था है। "असम्प्रज्ञात-समाधि-रूढ़ हो सर्वशक्तिमान्
कि जिस में अस्मिता" इच्छा से, लोकोपकारी कार्यों में प्रवृत्त होते हैं
के भान के कि निष्काम व्रतधारी संसार उपकारकारी पूज्यपाद पूर्व-
अवस्था कि निष्काम व्रतधारी संसार उपकारकारी पूज्यपाद पूर्व-
अवस्थालीन महर्षिगण किया करते थे तो योगी की उस अवस्था
चतुर्थ नाम स्वदेहलय और ईश्वरकोटि है! चलती हुई वायु भी
। विद्यु है और जो अचल अर्थात् स्थिर वायु है वह भी वायु ही है,
तैसी प्रकार निष्क्रिय महात्मा और संसार उपकारी कार्यों में क्रिया-
वनमान् महात्मा यह दोनों ही सिद्ध महापुरुष हैं, किन्तु केवल
ज्ञात नमें वाह्य लक्षण भेद होगा। इन अवस्थाओं से ऐसा भी स-
रूप मझा जासक्ता है कि ब्रह्मकोटि के जीवन मुक्त योगी गणों से
औ इस संसार के कोई भी उपकार होने की सम्भावना नहीं है;
परन्तु भूतकाल में जो कुछ संसार का उपकार हुआ है, वर्त्तमान
काल में जो कुछ उपकार हो रहा है, और भविष्यत् में जो कुछ
उपकार होगा वह ईश्वरकोटि के जीवनमुक्त योगी गणों से ही
होगा। योग की चरम सीमा अर्थात् प्रधान-लक्ष जो असम्प्रज्ञात
र्थात् निर्विकल्प समाधि है और जिसको इस सूत्र ने वृत्तियों
। नाश रूप संस्कारावशेष करके वर्णन किया है उससे तात्पर्य्य
ही है कि जैसे सोने में मिला हुआ सीसा आग पर रखने से

सोने के मैल को जलाकर उस मैल के साथ आप भी जल जाता है वैसे ही निरोध-संस्कार से चित्त-वृत्तियों का पूर्ण रूपेण निरोध अर्थात् नाश करके वह एकाग्रता रूप निरोध-संस्कार आप भी नाश हो जाता हैं, अर्थात् पीछे कोई संस्कार शेप नहीं रहता; और अन्त में वही निर्लिप्त सच्चिदानन्द रूप परमात्मा ही शेप रह जाते है । इसी प्रकार से वह समाधिस्थ महात्मा अपने शरीर से जो कुछ काम करते हैं अन्तःकरण वासना रहित होजाने से उनके किये हुए कर्मों के संस्कार फिर उस अन्तःकरण में नहीं लगते । उस अवस्था में उनका कर्म करना, न करना, उनका शरीर रहना न रहना, एकही समान है । यही असम्प्रज्ञात-समाधि योग की चरम सीमा और साधन का एक मात्र लक्ष है ।

भवप्रत्ययोविदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

देह से रहित प्रकृति की अवस्था में रहने से भव प्रत्यय होता है ॥१९॥

पूर्व सूत्र में महर्षि सूत्रकार समाधियों के दो भेद वर्णन करके अब उसकी अवस्थाओंका वर्णन कर रहे हैं, अर्थात् [illegible]चल्य पथ में अग्रसर होते हुए पुरुषार्थ भेद से समाधिस्थ साधक जिन दो अवस्थाओं की गति को प्राप्त होसक्ते हैं उनका विस्तार[illegible] वर्णन कर रहे हैं। समाधि में दो अवस्था होने की सम्भावना है, उन दोनों में से एक का नाम भव प्रत्यय, दूसरी का नाम उपा[illegible]प्रत्यय है। जो योगीगण योग के लक्ष असम्प्रज्ञात समाधि [illegible] पूर्णावस्था की ओर चलते हुए बीच में अटक जाते हैं, और यद्य[illegible] वे इन्द्रिय आदि को जय करके विपय वैराग्य-युक्त हो जाते [illegible]

तथापि अन्तःकरण के निरोधरूप संस्कार की सहायता से अपने निर्मल अन्तःकरण द्वारा मोक्ष के आनन्द के समान आभास सुख को भोगते रहते हैं, अर्थात् प्रकृति में लय होकर शुद्ध प्रकृतिद्वारा कैवल्य सुख के अनुरूप सुख में मग्न रहने लगते हैं उस अवस्था का नाम भवप्रत्यय है। इस अवस्था में प्रकृति की सूक्ष्मावस्था के अन्तर्गत स्थिति रहने से प्रकृति के पुनर्विस्तार की सम्भावना रहती है, अर्थात् पुनः अपनी पूर्वावस्था को वह अन्तःकरण प्राप्त हो सकता है। इस अवस्था को मोक्ष साधन का विघ्न समझना उचित है, इसकारण मुमुक्षुगणों के लिये अहितकारी है। और इस अवस्था के प्रकाश करने से यही तात्पर्य है, कि असम्प्रज्ञात समाधि की पूर्णावस्था कैवल्य पद को जो प्राप्त करना चाहें वे अवश्य करके इस अवस्था का त्याग करें, नहीं तो बीच में अटक कर पुनः फँसजाने की सम्भावना है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकइतरेषाम्॥२०

मुमुक्षुओं को योग की प्राप्ति श्रद्धा, उत्साह, स्मृति और समाधि-द्वारा प्रज्ञा से होती है यही दूसरा प्रकार है॥ २०॥

पूर्व्व सूत्र में भवप्रत्यय-अवस्था का वर्णन करके अब यहांपि सूत्रकार उपायप्रत्यय-अवस्था का वर्णन कर रहे हैं। दृढ़ विश्वास से जो किसी पदार्थ में एक प्रकार की प्रीति होती है उसे श्रद्धा कहते हैं। जब योग में श्रद्धा दृढ़ होजाती है तब ही उसके प्राप्त करने में योगी का उत्साह दृढ़ होजाता है। उत्साह युक्त साधन करते करते जैसा साधक को ज्ञान-रूप आनन्द मिल जाता है वैसे ही उस आनन्द की स्मृति रहती है। और उस

स्मृति के स्थिर होजाने से अन्त करण केवल आनन्दमय होजाता है ; इसही को इस सूत्र में समाधि कही गई है। इस प्रकार श्रद्धा, उत्साह, स्मृति और समाधि की सहायता से अन्तःकरण पूर्णानन्दमय प्रकाश को जब प्राप्त होजाता है, उस हा पूर्णज्ञान अवस्था को शास्त्रों में प्रज्ञा कहा गया है । और जब यही प्रज्ञा अवस्था स्थिर होजाती है तब ही असम्प्रज्ञात समाधि हा सक्ता है। इसही अनवरोध सीधे पथ का नाम उपाय प्रत्यय अवस्था है, जिस में प्रथम से ही वैराग्य का सम्बन्ध रहता है और शेष में वैराग्य की पूर्णावस्था अर्थात् परावैराग्य की सहायता से साधक प्रज्ञा को प्राप्त कर कैवल्य पद को प्राप्त कर लेता है ।

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

जिनके उपाय तीव्र संवेग के साथ होते है उनको समाधि समीप हैं ॥२१॥

समाधि प्राप्त करने के उपाय पूर्व्व सूत्रों में कह आये है ; अर्थात् पूर्व्व सूत्र कथित जो साधन क्रम है उससे ही असम्प्रज्ञात समाधि की पूर्ण अवस्था प्राप्त हो सक्ती है । परन्तु उन उपायों का वेग जिस साधक में जितना अधिक हो उतना ही वह साधक शीघ्र समाधि पद को पहुंच सक्ता है । वैराग्य से जितना विषय बन्धन शिथिल होजाता है उतना ही साधन उपायों का संवेग अर्थात् समाधि की ओर का आकर्षण उस साधक में बढ़ जाता है । इस सूत्र से महर्षि सूत्रकार का यही तात्पर्य है कि साधक में संवेग का श्रोत तीव्र ही होना उचित है; और तबही वह नाना प्रकार की रोकों से बचकर शीघ्र ही साधन के लक्ष असम्प्रज्ञात योग को प्राप्त कर सकेगा ।

मृदुमध्याधिमात्रत्वाततोपिविशेषः ॥ २२ ॥

मृदूपाय, मध्योपाय, और अधिमात्रोपाय यह संवेग के तीन भेद हैं ॥ २२ ॥

साधन उपाय के संवेग रूपी श्रोत वेग के विचार से तीन विभाग किये गये हैं; अर्थात् जब पूर्व लिखित चार उपायों का वेग मृदु होतो वह मृदूपाय संवेग कहलाता है ; यदि मध्य हो अर्थात् मृदु से अधिक होतो उसका नाम मध्योपाय संवेग है ; और यदि उन उपायों का संवेग अति तीव्र हो तो उसका नाम अधिमात्रोपाय संवेग होवेगा । और यही शेष कथित अवस्था अर्थात् अतिमात्रोपाय संवेग ही सब से श्रेष्ठ है और इस ही के उदय होने से साधक शीघ्र अपने लक्षस्थल कैवल्य पद को पहुंच जाता है ।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

अथवा ईश्वर प्रणिधान से भी मुक्ति होती है ॥ २३ ॥

महर्षि सूत्रकार पहिले चित्त वृत्ति निरोध रूप योग के साधारण उपाय से मुक्तिपद के लाभ करने का उपाय वर्णन करके अब उस के और भी उपायों का वर्णन करते हैं ; अर्थात् उनका यही तात्पर्य है कि अष्टाङ्ग योगरूप साधारण साधनों से चित्त वृत्ति निरोध होकर मुक्ति तो हुआ ही करती है, किन्तु ईश्वर भक्ति जिसका कि वर्णन इस सूत्र में किया जायगा, और भी कई एक प्रकार के साधन जिनका वर्णन पर सूत्रों में

किया जायेगा उन से भी मुक्ति रूप कैवल्य पद की प्राप्ति हो सकती है। इस सूत्र में केवल ईश्वर प्रणिधान से मुक्ति प्राप्त करने का वर्णन किया गया है। प्रणिधान शब्द का अर्थ श्रीभगवान् वेदव्यासजी ने भक्ति कहा है; भक्ति-मार्ग के प्रधान आचार्य्य देवर्षि नारद और महर्षि शाण्डिल्य आदिकों ने भक्ति के ऐसे लक्षण वर्णन किये हैं, कि ईश्वर के प्रति पूर्ण अनुराग को ही भक्ति कहते हैं; अर्थात् जब साधक के चित्त में ऐसा दृढ़ विश्वास होजाय कि, इस सृष्टि में जो कुछ होता है उसके करने वाले एक मात्र सर्व्वशक्तिमान् ईश्वर ही हैं; जो कुछ होता है होने दो, ऐसा विचार करके जब वह भक्तिमान् साधक ईश्वर के ध्यान करने में ही मग्न रहता है और सृष्टि की ओर से मुख फेर कर परमात्मा की ओर देखता हुआ उनही के सर्व्वशक्तिमय गुणातीत गुणों को स्मरण करता हुआ उनही के प्रेम में मग्न हो जाता है तबही वह भक्ति, ईश्वर-भक्ति कहाती है। अहंकार ही जीव को कर्म्म से बांधता रहता है, क्योंकि जीव सदा अपनी योगता पर भरोसा करके ऐसा मानने लगता है कि मैं अपने पुरुषार्थ से अमुक दुःख की निवृत्ति और अमुक सुख की प्राप्ति करूंगा; इस अहंकार से ही जीव त्रिताप दुःख रूपी बन्धन को प्राप्त होता है; परन्तु जब जीव में ईश्वर भक्ति का उदय होता है और वह ईश्वर में भक्ति-युक्त होकर ईश्वर पर ही पूर्ण भरोसा करने लगता है, सत्, असत् विषयों को छोड़कर ईश्वर प्रणिधान में ही मग्न रहता है तब अपने आपही उस के हृदय का तम रूपी अहंकार मिट जाता है, और उसके सब विषय वासना रूपी बन्धन शिथिल होजाते हैं; और इसही प्रकार ईश्वर प्रणि-

धान से चित्तवृत्ति निरोध होकर, ईश्वर का ध्यान करते करते वह साधक ईश्वर-रूपी कैवल्य पद को प्राप्त करलेता है। इस सूत्र से महर्षि सूत्रकार ने भक्ति मार्ग का सम्बन्ध योगसे दिखाया है, और यह प्रमाणित कर दिया है कि कैसे भक्तगण भक्ति मार्ग के साधन से कैवल्य रूपी परमानन्द पद को प्राप्त कर सक्ते हैं। अधिकार के भेद से भगवत् भक्ति दो प्रकार की होती है, यथा-गौणी-भक्ति और पराभक्ति। इन दोनों प्रकार की भक्तियों का विस्तारित विवरण भक्ति दर्शन में द्रष्टव्य है। पराभक्ति की प्राप्ति के लिये शरीर और मन द्वारा जो प्रथम साधन किया जाता है वह गौणी-भक्ति कहाती है; और इस प्रकार की गौणी-भक्ति के साधन से जब साधक उन्नत भूमि को प्राप्त होकर भगवत्-प्रेम में तन्मय होजाता है वही अवस्था पराभक्ति की है, पराभक्ति और निर्विकल्प समाधि एकही अवस्था है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टःपुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

जिन में क्लेश, कर्म्म, कर्म्मफल, और संस्कारों का सम्बन्ध नहीं हैं वेही जीव से भिन्न ईश्वर हैं ॥ २४ ॥

अविद्या से उत्पन्न हुआ जो विषय बन्धन है, उसके कारण राग और द्वेष की सहायता से जो चित्त की विकलता रहती है उसही का नाम क्लेश है इन क्लेशों का वर्णन पीछे सूत्रों में आवेगा। जो वेद विहित कर्म्म अथवा वेद निषिद्ध कर्म्म मन और शरीर द्वारा किये जाते हैं, और जो शुभकारी होने से पुण्य और अशुभकारी होने से पाप कहलाते हैं उनही का नाम कर्म्म है।

उनही किये हुए कर्म्मों मे जब फल की उत्पत्ति होती है अर्थात् अच्छे कर्म्मों से सुख और बुरे कर्म्मों से दुःख की उत्पत्ति होकर जीव भोगने लगता है उसही का नाम विपाक अर्थात् कर्म्मफल है। और कर्म्मों का जो संस्कार अन्तःकरण में रहता है जिस से पुन वासना की उत्पत्ति होती है उसही वासना के मूल कारण का नाम आशय अर्थात् संस्कार है। यह क्लेश, कर्म्म, विपाक अर्थात् कर्म्मफल, और आशय अर्थात् संस्कार जिनमें नहीं वेही ईश्वर है; अर्थात् जीव में तो यह चारों वस्तुऐं संलग्न है परन्तु सर्व्वशक्तिमान् ईश्वर इन से रहित है। अविद्या के कारण जीव अपने आपको कर्त्ता मानकर (स्वच्छ स्फटिक मणि पर लाल रंग का प्रतिबिम्ब पड़ने से जैसे वह स्फटिकमणि रक्तवर्ण होजाती है उसी प्रकार प्रकृति के किये हुए कर्म्मों को वह निर्लिप्त पुरुष अपना कर्म्म समझने लगता है,) और इसही अविद्या रूपी भूल के वशीभूत होकर वह प्रकृति के कर्म्मों से नाना दुःखों में फँसा रहता है यही अविद्या जीव के जीवत्व का कारण है। परन्तु पूर्ण प्रकाशवान्; पूर्ण ज्ञानवान्, पूर्ण शक्तिमान्, निर्लिप्त ईश्वर आवद्यारूपी अन्धकार से रहित होने के कारण उन में जीव के दोष अर्थात् क्लेश, कर्म्म, विपाक, और आशय रूप बन्धन नहीं है; सर्व्वव्यापक ईश्वर सब में हैं, विराट् रूपी ईश्वर में समस्त संसार है, अर्थात् वे सब में हैं और उनमें ही सब हैं परन्तु वे सब से निर्लिप्त है। उनकी ही शक्ति से संसार का समस्त कार्य चल रहा है, उनही की आज्ञा से एक परिमाणु भी नियम से विरुद्ध इधर उधर नहीं हिल सक्ता; परन्तु वे पूर्ण शक्तिधारी होने के कारण और उनके आधीन पूर्ण ज्ञान रूप विद्या रहने

के कारण वे सबसे निर्लिप्त हैं। बहुतेरे श्रेष्ठ पुरुष प्रथम जीव अवस्था में रहकर पुनः साधन द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हुए मुक्त हो जाते हैं; परन्तु ईश्वर की अवस्था उस प्रकार की नहीं है अर्थात् ईश्वर में बन्धन का और अल्प ज्ञान का लेश मात्र नहीं, वे परमात्मा परमेश्वर भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान इन तीनों कालों में एक रूप ही हैं, वे सदा पूर्ण ऐश्वर्य्यवान् हैं, उनकी ऐश्वर्यता का कभी न्यूनाधिक्य नहीं हो सकता, इसही कारण वे इस संसार के उत्पत्ति, स्थिति और लयकर्ता और जीव रूप से भिन्न ही हैं।

तत्रनिरतिशयंसर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

उनमें अर्थात् ईश्वर में सम्पूर्ण ज्ञान का बीज वर्त्तमान है ॥ २५ ॥

जो पदार्थ घटता बढ़ता है अर्थात् जिस पदार्थ की छोटाई बड़ाई है उसकी अवधि अवश्य होगी, जीव में जो ज्ञान अंश प्रतीत होता है वह जीव के अन्त करण की चंचलता के तारतम्य से न्यूनाधिक्य हुआ करता है; अर्थात् विषयों के सम्बन्ध से ही विषय रूप होकर अन्तःकरण चंचल हुआ करता है। विषय रूप सम्बन्ध जिस अन्तःकरण में जितना अधिक होगा अन्तःकरण में चंचलता होने के कारण उसमें ज्ञान का प्रकाश उतनाही न्यून होगा, और ऐसे ही अन्तःकरण में विषय का सम्बन्ध घटने से उसकी चंचलता जितनी न्यून होती जावेगी उतना ही ज्ञानरूप प्रकाश उस अन्तःकरण में अधिक होता जायगा; इस ही कारण प्रत्येक जीव के अन्त करण की चंचलता के तारतम्य से

उस में ज्ञान भी न्यूनाधिक हुआ करता है। पूर्व्व वर्णन से यह बात सिद्ध हो चुकी कि जीव में ज्ञान की छोटाई बड़ाई है। जीव में अविद्या रहने के कारण उस का अन्तःकरण एकदेशदर्शी है अर्थात् अविद्या के कारण जीव यही समझ रहा है कि मैं ही ज्ञान रूप हूं ; और इसही कारण उसका अन्तःकरण देश काल से परिच्छिन्न अर्थात् मिला हुआ है तो ज्ञान की पूर्णता जीव में कैसे सम्भव होसक्ती है। शक्ति के वशीभूत जीव होजाने से इस शक्ति का नाम अविद्या हुआ, परन्तु त्रिगुणमयी विद्या रूपिणी महाशक्ति सदा ईश्वर के आधीन रहती हैं इस कारण ईश्वर उनसे निर्लिप्त हैं; प्रकृति के गुणों में फँसकर जीव अल्पज्ञता को प्राप्त हुआ करता है, परन्तु ईश्वर के आधीन सदा विद्या रूपिणी प्रकृति रहने से उनकी अवस्था का परिवर्तन होने की सम्भावना नहीं; इस कारण वे सदा पूर्णज्ञान रूप ही हैं। अपने ही अन्तःकरण के ज्ञान–द्वारा अल्पज्ञानी जीव कितना ही अधिक जानले परन्तु उसका अन्तःकरण देश काल से परिच्छिन्न होने के कारण असम्पूर्ण ही रहेगा; परन्तु ईश्वर का ज्ञान इस भांति नहीं है, वे सदा निर्लिप्त हैं; इस कारण देश काल उन को स्पर्श नहीं करसक्ता। इस ही कारण वे सर्व्वव्यापक सर्व्वशक्तिमान् पूर्णज्ञानी परमेश्वर सब जीवों के मन की जान जाते हैं अर्थात् जो कुछ जानने के योग्य है वह उन के ज्ञान से भिन्न नहीं रह सक्ता; भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान इन तीनों काल में एक रूप से स्थाई वह ईश्वर का पूर्ण ज्ञान ही ज्ञान की अवधि अर्थात् ईश्वरीय सर्व्वज्ञता है।

सएषपूर्व्वेषामपिगुरुःकालेनानवच्छेदात्॥२६॥

काल कृत सीमा से रहित होने से वे सर्व्व पूर्व्व वालों के गुरु हैं ॥ २६॥

अनन्तकाल से आजतक ज्ञानप्रकाशक जो कोई महात्मा जन्मे हैं वे सब ईश्वर विभूति हैं; अर्थात् जो जो महर्षिगण अथवा आचार्य्यगण आजतक शास्त्रों द्वारा वेदार्थ प्रकाश करगये हैं उनको अन्यरूपेण भगवत्-विभूति कहना उचित है । परन्तु कुछ भी हो अर्थात् महात्मागण कितने ही उन्नत ज्ञान को प्राप्त होगये हों तो भी उनको ईश्वर विभूति ही समझेंगे; और वे सर्व्वज्ञानमय पूर्ण प्रकाशवान् परमेश्वर के निकट शिष्य रूप से ही समझे जायँगे; अर्थात् उन महात्मागणों ने जो कुछ प्रकाश किया है वह उस पूर्ण-ज्योतिर्मय अनन्त किरणधारी सूर्य्य की एक एक किरण मात्र ही है; उन्होंने जो कुछ ज्ञान प्रकाश किया है वह उन परमेश्वर से ही प्राप्त हुआ है । पूर्व्वज महर्षिगणों का वर्णन करते समय पूर्व्वापर सम्बन्ध मिलता ही रहेगा अर्थात् सब के गुरु का पता मिलजायगा; इस कारण उन में काल की सीमा रही; परन्तु ईश्वर में वैसा नहीं हो सकता; क्योंकि वे सर्व्वशक्तिमान सर्वज्ञाता त्रिकालव्यापी परमेश्वर सब के आदि हैं, और वे तीनों काल में एक रूप से ही वर्त्तमान हैं; वे ही सब ज्ञानों के आकार हैं और वे ही सब के गुरु अर्थात् उपदेष्टा हैं ।

तस्यवाचकःप्रणवः ॥ २७ ॥

उनका वाचक प्रणव है ॥ २७ ॥

जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है उसको वाचक कहते हैं। और जो जानने के योग्य है वही वाच्य कहाता है; ईश्वर वाच्य हैं और प्रणव वाचक है; अर्थात् प्रणव द्वारा ईश्वर का ज्ञान हो सकता है। पिता और पुत्र दोनों एक स्थान पर बैठे रहने से यदि कोई उन में से पिता शब्द उच्चारण करे तो ऐसा समझना उचित है कि बोलने वाला पुत्र है और दूसरा पुरुष पिता है; अर्थात् पिता शब्द रूप वाचक ने व्यक्ति रूप पिता अर्थात् वाच्य का बोध कराया। पिता पुत्र का सम्बन्ध यदिच स्वाभाविक है, परन्तु विचारने से यही कहा जा सकेगा कि यह शब्द सान्केतिक है, परन्तु प्रणव और ईश्वर में जो सम्बन्ध है वह इस प्रकार केवल सांकेतिक अथवा काल्पनिक नहीं है; इस स्थल में वाच्य और वाचक का अनादि सम्बन्ध है। शास्त्रों में यदिच ऐसा वर्णन बहुत स्थल में देखने में आता है कि प्रणव-ध्वनि केवल चित्त-वृत्ति ठहरा कर सुनने के योग्य है और यथार्थ में उसका उच्चारण मुख से होना असम्भव है; तथापि गौण रूपेण जो प्रणव मंत्र उच्चारण किया जाता है वह त्रि-अक्षरमय है, अर्थात् अ, उ और म से ओंकार रूपी प्रणव होता है; जिस का अर्थ शास्त्रों में ऐसा वर्णन है कि यह तीनों अक्षर ब्रह्मा, विष्णु और शिव अर्थात् रजगुण, सत्वगुण और तमगुण के अधिष्ठाता हैं; सर्वशक्तिमान् परमेश्वर जो अपने तीन गुणों से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय किया करते हैं वह त्रिगुणमयीशक्ति प्रणव में भी उपस्थित है; और प्रणव ही ईश्वर रूप है। प्रणव का वैज्ञानिक कारण यह है कि, जहां कोई कार्य है वहां अवश्य कम्पन है, जहां कम्पन होगा वहां अवश्य शब्द

होगा, जब विराट् रूपी ईश्वर में सृष्टि रूप कार्य्य हो रहा है तो सूक्ष्म रूपेण उस त्रिगुणात्मक कार्य का शब्द प्रणव है; अर्थात् जेस प्रकार विराट् रूप ही ईश्वर का रूप है, उसही प्रकार ओंकार रूप वाचक से ईश्वर का ज्ञान होना सम्भव है। कार्य्य रूप विराट् पुरुष से कार्य्य शब्द रूप प्रणव-ध्वनि का अविमिश्र सम्बन्ध रहने के कारण, और प्रणव-ध्वनि रूप ध्वन्यात्मक शब्द का रूप वर्णमाला-वर्णात्मक प्रतिशब्द होने के कारण शाब्दिक ओंकार अथवा शब्दातीत प्रणव दोनों ही पूर्वापर सम्बन्ध से ईश्वर वाचक रूप होकर प्रणव कहाते हैं। और इस ही विचार से ईश्वर में और प्रणव में भेद नहीं समझा जाता है; और इस ही कारण वाच्य ईश्वर और वाचक प्रणवमें अनादि और अविमिश्र सम्बन्ध है।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

प्रणव का जप और उसका अर्थ विचारने से समाधि होती है ॥ २८ ॥

अब प्रणव-जप का फल कह रहे हैं। पूर्व्व सूत्र से यह प्रमाणित हो चुका है कि ईश्वर और प्रणव में अविमिश्र और अनादि सम्बन्ध है; इस कारण प्रणव जप करते करते अवश्य अन्तःकरण को ईश्वर साक्षात्कार हो जायगा। यह जप तीन प्रकार का होता है यथा—वाचनिक, उपान्शु और मानसिक; जिस मन्त्र का जप इस रीति से किया जाय कि उसकी ध्वनि औरों के कान में भी पड़े और अपने भी कानों में पड़कर उसके शब्द में चित्त ठहरे उसका नाम वाचनिक जप है; जो जप इस भांति से किया जाय कि जिसकी सूक्ष्म ध्वनि अपने ही कानों तक पहुंचती रहे

और उससे एकाग्रता स्थापन करै तो उस जप का नाम उपान्शु जप है; इसही प्रकार जब जप केवल मन से ही किया जाय अर्थात् उस शब्द की सूक्ष्म ध्वनि केवल मन ही में उठै और जिस को मन द्वारा श्रवण करता हुआ मन उस शब्द में लगा रहै तो इस प्रकार के जप का नाम मानसिक जप है; इन तीन प्रकार के जपों की शक्ति का जैसा प्रभाव मन पर पड़ता है उसके तारतम्य से मानस जप को उत्तम, उपान्शु जप को मध्यम और वाचनिक जप को अधम कह सक्ते हैं। यदिच प्रणव व ओंकार दोनों एक ही अर्थ वाचक हैं तथापि पूर्व्वापर अवस्था भेद से ध्वन्यात्मक कारण प्रकृति शब्द को प्रणव एवम् वर्णात्मक प्रतिशब्द को ओंकार कह सक्ते हैं; इस कारण ध्वन्यात्मक प्रणव का जप केवल मन को स्तम्भावस्था में लेजाने से हो सक्ता है और केवल वर्णात्मक ओंकार को ही पूर्व्व कथित तीन रूप से जप कर सक्ते हैं। इसी से दोनों एक ही भाव मय होने पर भी पूर्व्वापर अवस्था भेद से मुख्य और गौण है तथापि दोनों ही ईश्वर वाचक प्रतिशब्द हैं। जब प्रणव के साथ ईश्वर का अनादि और अविमिश्र सम्बन्ध होना प्रमाणित है तो साधक वाचक रूपी ओंकार का जप करते करते उत्तम अवस्था में पहुंच कर जब अन्त करण को उस वाचक रूपी प्रणवध्वनि में लय कर देगा तो स्वत ही उसका अन्त करण वाच्य रूपी ईश्वर में पहुंच जासक्ता है। जैसे तैलपायी कीट को जब कंचुकी कीट धारण कर लेता है, तब वह तैलपायी कीट (भय से मोहित हो) उस कंचुकी कीट का रूप ध्यान करते करते अन्त में कंचुकी कीट हो जाता है; उसी प्रकार जीव यदि भगवद्गुण स्मरण द्वारा सदा परमेश्वर का

ध्यान करता रहे तो स्वत. ही उसकी स्वाभाविक चंचल वृत्तियों का नाश होजायगा; और वह भगवद्भाव को ध्यान करता हुआ मुक्त होजायगा, इस में कोई संदेह नहीं। इन्हीं कारणों से महर्षि सूत्रकार का इस सूत्र से यही तात्पर्य्य है कि वाचक रूपी प्रणव का जप और उसके साथ ही भगवद्गुणों का स्मरण करते करते साधक स्वत ही समाधिस्थ होकर आत्मदर्शन करने लगेगा ।

ततःप्रत्यक्चेतनाधिगमोप्यन्तरायाभावश्च।२९।

तब परमेश्वर का ज्ञान होता है, और विघ्नों का नाश होजाता है॥२९॥

तब अर्थात् जब प्रणव के साधन से जीव अपनी चित्तवृत्तियों से उपराम हो आत्मदर्शन करने लगता है उस समय उसका अन्तःकरण समाधिस्थ हो जाता है । जब तक अन्तःकरण समाधिस्थ नहो तब तक वृत्तिगण वहिर्मुख होकर अर्थात् विषयों से मिलकर अन्तःकरण को चंचल कर दिया करती हैं, यही चंचलता समाधि का विघ्न है; परन्तु अब जब प्रणव साधन से चित्त वृत्तियां ठहर कर अन्तःकरण एकाग्र होके भगवद्भाव में लय हो जाता है तब इन विघ्नों का नाश आप ही हो जाता है । और इस ही अवस्था में अन्तःकरण निर्मल होजाने से उस में प्रज्ञारूपी यथार्थ ज्ञान का उदय होता है, और इसही ज्ञान की प्राप्ति से साधक भगवत् साक्षात्कार लाभ करके मुक्त होसक्ता है ।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्यऽविरतिभ्रांति दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति दर्शन, अलब्धभूमिकत्व, और अनवस्थितत्व, यह सब चित्त के विक्षेप और योग के विघ्न हैं ॥ ३० ॥

अब महर्षि सूत्रकार अन्तःकरण की विक्षेप कारक वृत्तियों का वर्णन कर रहे हैं यही वृत्तियां अन्तःकरण को योग युक्त होने से रोकती हैं, अर्थात् यही साधक को योग अवस्था प्राप्त करने में विघ्नकारी हैं। शरीर और अन्तःकरण का अविमिश्र सम्बन्ध है, और स्थूल शरीर में धातु और रस के विगाड़ से पीड़ा होती है; अर्थात् शरीर में साधारण रीति पर जिस प्रकार से धातु और रस का रहना उचित है यदि उस स्वाभाविक नियम में भेद पड़ जाय तो उस से शरीर में ज विकार उत्पन्न होता है उसको व्याधि कहते हैं । जब अन्तःकरण की प्रवृत्ति तामसिक कर्म्मों की ओर रहे; और उसकी ऐसी चेष्टा रहे कि जब कर्म्म करे तो तामसिक कर्म्म ही करे, नहीं तो कर्म्म रहित होने की प्रवृत्ति दिखावे; अन्तःकरण की इस प्रकार की तामसिक वृत्ति का नाम स्त्यान है। दो पदार्थों में से किसी एक पदार्थ में भी निश्चय बुद्धि न होने को संशय कहते हैं; अर्थात् जब दो पदार्थों का विचार करते करते भ्रमपूर्ण बुद्धि कभी उन दोनों में से एक को सत् रूपेण

ग्रहण करे और पुन अपने उस विचार को भ्रमपूर्ण समझ कर दूसरे को असत् मानने लगे, इस प्रकार की जो चलायमान् वृत्ति है उसको ही संशय कहते हैं । समाधि की पूर्णावस्था के प्राप्त करने के जो जो उपाय हैं, अर्थात् जिन उपायों द्वारा साधक शनैं शनैं समाधिस्थ हो सकता है उन उपायों में अन्त करण के न जमने को प्रमाद कहते हैं, पूर्व सूत्रों में महर्षि सूत्रकार श्रद्धा को ही योगयुक्त होने का प्रथम अवलम्बन कह आये हैं, जो वृत्ति इस वृत्ति के विरुद्ध हो अर्थात् जो वृत्ति योग की क्रियाओं में अन्तःकरण के लगने की बाधक हो उसही का नाम प्रमाद समझना उचित है। मन में और शरीर में तमगुण अधिक बढ़जाने से जब मन और शरीर कार्य्य करना नहीं चाहते हैं तमगुण की उसी अवस्था का नाम आलस्य है, अर्थात् तमगुण के भारीपन के दबाव से जब अन्त करण और शरीर में जड़ता आजाती है और वे स्फूर्तिहीन होकर परिश्रम से बचना चाहते हैं अन्त करण और शरीर की इस अवस्था को ही आलस्य कहते हैं। अन्त - करण जब तन्मात्रा और इन्द्रियों की सहायता से किसी विषय में लगकर उस विषय को अपने में आरोपित कर आत्मा के संग उस विषय का संयोग करदेता है उस अवस्था को अविरति कहते हैं, अर्थात् आत्मा अविद्या के कारण अपने आपको अन्त करण माने हुए है, अन्त करण की जो स्वाभाविक वृत्ति विषय के साथ मिलकर अपने आपको विषयवत् करती हुई आत्मा को मोहित अथवा प्रलोभित करती रहती है, अन्त करण की उस वृत्ति का नाम अविरति है । कुछ से कुछ समझ लेने को भ्रांति कहते हैं; अर्थात् जैसे शुक्ति के देखने से रजत का विपर्ययज्ञान होता है, जैसे

कभी छाया आदि के देखने से प्रेतादि का बोध होता है इसी प्रकार के विपरीत ज्ञान को भ्रांति कहते हैं। जब अन्तःकरण समाधि की पूर्ण अवस्था की ओर चलते हुए बीच में अटक जाता है; अर्थात् अपनी निर्म्मलता की सहायता से आत्मा के आभास सुख को ही आत्मा यथार्थ सुख समझ कर, उसी आभास आनन्द में मग्न हो रहता है; जैसे कि जड़ समाधि आदि में साधक को हुआ करता है, इस प्रकार की कैवल्यपद में विघ्न डालनेवाली अवस्था को अलब्धभूमिकत्व कहते हैं। और जब साधक का अन्तःकरण पूर्ण योगभूमि अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि की भूमि में पहुंच कर वहां बिना ठहरे ही नीचे की ओर उतर आया करता है; अर्थात् अन्तःकरण में दृढ़ता का अभाव होने के कारण वह योग का प्रधान लक्ष निर्विकल्प समाधि अथवा असम्प्रज्ञात समाधि में पहुंच तो जाता है परन्तु ठहर नहीं सक्ता; साधक की इस दुर्बलता को अनवस्थितत्त्व कहते हैं। इस सूत्र में लिखी हुई यह नौ वृत्तियां अन्तःकरण के विक्षेप और योग साधन के विघ्न हैं; अर्थात् इन समाधि विरोधी गतियों के कारण से अन्तःकरण प्रकृति की ओर लगा रहता है और उनहीं के कारण योग के प्रधान लक्ष कैवल्यपद को प्राप्त नहीं होसक्ता; यही योग विघ्न कहाते हैं।

दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासाविक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास, और प्रश्वास, यह चित्त विक्षेप के साथ होते हैं ॥ ३१ ॥

पूर्व्व सूत्र में एक प्रकार के योग विघ्नों का वर्णन कर.. अब महर्षि सूत्रकार दूसरे प्रकार की विघ्नकारी वृत्तियों का वर्णन करते हैं; पूर्व्व कथित वृत्तियां विक्षेपकारक हैं और अब जिन वृत्तियों का वर्णन किया जावेगा वे विक्षेप की सहायक हैं; दोनों प्रकार की वृत्तियां ही योग में विघ्न करने वाली हैं, परन्तु पूर्व्वापर सम्बन्ध होने के कारण उनको पहले और इनको पीछे वर्णन किया है। दुःख तीन प्रकार का होता है यथा—आध्यात्मिक दुःख, आधिदैविक दुःख और आधिभौतिक दुःख; आत्मा सम्बन्धीय दुःख अर्थात् अन्तःकरण से जो दुःख की उत्पत्ति हो उसे आध्यात्मिक दुःख कहते हैं, जो दैवात् एकाएक दुःख उत्पन्न हो जिसका कि पूर्व्व कारण जानने में नहीं आता है जैसे मारीभय, वज्रपात आदि; इस प्रकार के दैवी दुःख को आधिदैविक कहते हैं, और जो दुःख और जीवों के द्वारा प्राप्त हो यथा-कुटिल मनुष्य और हिंसक जन्तु आदि से जो दुःख प्राप्त होता है उसको आधिभौतिक दुःख कहते हैं। वासना के पूर्ण न होने से इच्छा भंग होकर जो एक प्रकार का क्षोभ अर्थात् मन और शरीर अवसन्नता हुआ करती है उसका नाम दौर्मनस्य है। भय आदि वृत्तियों के वशीभूत होकर जो मन, शरीर और शरीर के अंगों का कम्पन उपस्थित होता है उन विघ्नकारी वृत्तियों का नाम अंगमेजयत्व है प्राण वायु जो बाहिर की वायु को भीतर की ओर खैंचता है उसको श्वास कहते हैं। और प्राण वायु जो भीतर की वायु बाहिर को फेंकता है उसका नाम प्रश्वास है। जिस प्रकार त्रिताप, दौर्मनस्य और अंगमेजयत्व यह तीनों अन्तःकरण त्रिगुण के साथ रहके हैं और अधिक विक्षेप करने में सहायक

होते हैं, उसी प्रकार श्वास, प्रश्वास भी अन्तःकरण को विक्षेप करने के सहायक हैं अर्थात् जितना अन्तःकरण चंचल होगा उतना ही श्वास, प्रश्वास अधिक अधिक वहेगा; और यह भी प्रमाणित है कि अन्तःकरण ठहरते ही प्राण क्रिया ठहर जायगी, और अन्त करण जितना चंचल होवेगा उतना ही प्राणक्रिया रूपी श्वास, प्रश्वास भी अधिक वेग से धावित होगा। इसकारण इस सूत्र में कहीं हुई यह पांचों वृत्तियां सदा अन्त करण विक्षेप की सहायक है, इसी कारण अभ्यास और वैराग्य से इनको रोक कर अन्त करण को शुद्ध करना साधक को उचित है।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

विक्षेपकारी वृत्तियों की निवृत्ति के लिये एकतत्त्व का अभ्यास करना उचित है ॥ ३२ ॥

पूर्व्व सूत्रों में अन्तःकरण विक्षेपकारी वृत्तियों का वर्णन करके अव इस सूत्र में उनके वचने का उपाय वर्णन कर रहे हैं। एकतत्त्व के अभ्यास से अन्तःकरण विक्षेपकारी वृत्तियों का नाश होजायगा; अव प्रश्न यह हुआ कि वह एकतत्त्व क्या है? यदि ऐसा कहा जाय कि अन्त करण को एकाग्र करनेसे ही एकतत्व अभ्यास होगा। इसके उत्तर में यदि कोई कहे कि जव हम अन्तःकरण को नाना विषयों में भ्रमण करते हुए देखते हैं तो इससे यही अनुभव होता है कि नाना विषयों में भ्रमण करना ही अन्त करण का स्वाभाविक गुण है; इसी कारण उसका किसी ज्ञात अथवा अज्ञात विषय में ठहरना असम्भव है; क्योंकि नाना विषय रूपी अन्तःकरण का प्रवाह क्षणिक है अर्थात् अन्त करण

में एक प्रकार का प्रवाह सदा नहीं रहता; क्षणिक वस्तु में एकाग्रता कहां से आवेगी? परन्तु जब प्रत्यक्ष देखने में आता है कि रजगुण द्वारा जब अन्तःकरण से काम लिया जाता है तब वह नियमित एक प्रकार के कार्य्य में ही लगा रहता है, इसहेतु क्षणिक नहीं हो सक्ता, और जब साधन द्वारा अन्तःकरण को जितनी देर तक चाहें एकाग्र करके रख सक्ते हैं अर्थात् जब उस का लक्ष सिवाय एक पदार्थ के और कहीं नहीं जाता तो इससे यही सिद्धांत हुआ कि अन्तःकरण का स्वाभाविक गुण नाना विषयों में भ्रमण करना नहीं है; यदि ऐसा होता तो एकाग्रता स्थापन उसमें हो ही नहीं सक्ती थी और यदि होती तो वह एकाग्र अवस्था उसके अर्थ क्लेश का कारण होती। जहां प्रत्यक्ष प्रमाण है वहां सन्देह का कोई कारण ही नहीं; इस कारण यह दृढ़ता के साथ निश्चय हुआ कि अन्तःकरण एकाग्र हो सक्ता है और अन्त.करण की एकाग्रता से ही एकतत्व की प्राप्ति हो सक्ती है। अब देखना चाहिये कि वह एकतत्व क्या है? जब हम कहते हैं कि "हमारा शरीर अच्छा है" तो शरीर का देखनेवाला कोई स्वतंत्र पदार्थ हुआ, वही स्वतंत्र पदार्थ अन्तःकरण है जो शरीर का अच्छा होना न होना विचार कर रहा है; इसी प्रकार जब हम कहेंगे कि "आज हमारा अन्तःकरण प्रसन्न है" तो अहं पद वाच्य अर्थात् वह पुरुष जो अपने आप को अन्त.करण से स्वतंत्र रखकर "हमारा अन्त.करण" ऐसा कह रहे हैं वे अन्तःकरण से भी स्वतंत्र सिद्ध हुए। इन दोनों विचारों से यही सिद्ध हुआ कि अहंपदवाच्य पुरुष स्वतंत्र है और अन्तःकरण भी स्वतन्त्र है; और अन्तःकरण का और उस पुरुष का निकट

सम्बन्ध है; जब वह अन्तःकरण पुरुष की ओर से दृष्टि फेर कर नाना विषयों की ओर दृष्टि करके उन में फंस जाता है तब ही वह नाना रूप धारण कर लेता है; और यही अवस्था अन्तःकरण की है, अर्थात् जब वह बहु रूप धारण कर लेता है तब तो वह अन्तःकरण कहाता है और जब वह एकाग्रता स्थापन करता हुआ पूर्ण रूपेण एकाग्र हो जाता है तब वह पूर्ण-ज्ञान रूपी प्रज्ञा कहाता है और उस प्रज्ञा रूपी अवस्था में भासमान् अद्वैत पुरुष ही तत्वातीत एकतत्व हैं; अर्थात् जहां एक के सिवाय दूसरा पदार्थ नहीं रहता वही अद्वैत पदार्थ परमात्मा हैं। उनहीं के दर्शन को लक्ष करके जब अन्तःकरण एकाग्र होने लगता है तब ही वह एकाग्रता की शेष सीमा को पहुंच सक्ता है; और इसही प्रकार की एकाग्रता स्थापन करने से ही अन्तःकरण पूर्व्व कथित विक्षेपों से बचकर एकाग्र हो परमानन्द को प्राप्त कर सक्ता है।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणांसुखदुःखपुण्यापुण्य विषयाणांभावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

सुखीसे प्रीति, दुःखियों पर दया, पुण्यात्मा से प्रसन्नता और पापीगणों मे उदासीनता धरने से अन्तःकरण की प्रसन्नता होती है॥ ३३ ॥

पूर्व्व सूत्र में एकतत्व अभ्यास का वर्णन करके अब इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार एकतत्व प्राप्ति की सहायक वृत्तियों का वर्णन कर रहे हैं। यह पहिले ही कह आये हैं कि अक्लिष्ट वृत्तियां सत्वगुण की वृत्ति हैं और क्लिष्ट वृत्तियां तमोगुण की हैं; जिन में से सत्वगुण की वृत्तियां ज्ञानप्रकाशक, और आनन्द दायक हैं, और

तमोगुण की वृत्तियाँ ज्ञाननाशक और क्लेशकारक हैं। सुखी मनुष्य को देख कर तमोगुणी मनुष्यों में ईर्षारूप क्लिष्ट वृत्ति होसक्ती है; परन्तु यदि अभ्यास से अन्तःकरण को ऐसा अभ्यासित किया जाय कि सुखी मनुष्य को देखते ही उसमें प्रीति का संचार हो तो कदापि उस अन्तःकरण के विचलित होने की सम्भावना नहीं इसी प्रकार यदि दुःखी मनुष्य को देखकर साधक के हृदय में निष्ठुरता रूपी क्लिष्ट वृत्ति न होकर प्रथम ही अन्तःकरण में दया का उद्रेक हो; पुण्यात्मा को देखकर ईर्षा, दम्भ आदि क्लिष्ट वृत्तियां न होकर यदि अन्तःकरण प्रसन्न होने लगे; और पापीगणों को देखकर न तो उनके कर्म्मों का अनुमोदन ही करे और न विरोधी ही बनें परन्तु अन्तःकरण उदासीन होजाय अर्थात् यही विचारने लगे कि "अपने अपने कर्म्मानुसार जीव की गति होती है, और गुण के अनुसार ही कर्म्म हुआ करता है. जिसको जो चाहे करने दो हमारे देखने की आवश्यकता क्या है,, ऐसा विचार करके यदि साधक गण पापीगणों की पाप-क्रियाओं से उदासीन रहें तो साधक का अन्तःकरण कदापि विचलित नहीं होगा; और प्रसन्नता को प्राप्त होता हुआ एकाग्रता की ओर अग्रसर होता जायगा। इसी कारण इस सूत्र का यह तात्पर्य्य है कि सुखीगणों को देख कर प्रीति, दुःखीगणों को देख कर दया, पुण्यात्मागणों को देखकर प्रसन्नता और पापीगणों को देख कर उदासीनता लाने से अन्तःकरण अविचलित रहता है और इसी प्रकार शनैः शनैः एकाग्र होता हुआ एकतत्व रूपी ईश्वरभावमय भाव को प्राप्त करके मुक्त होसक्ता है।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यांवाप्राणस्य ॥ ३४ ॥

अथवा प्राण के प्रच्छर्दन और विधारण की क्रिया से भी एकाग्रता लाभ होता है ॥ ३४ ॥

इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार एकाग्रता स्थापन करने का दूसरा उपाय वर्णन कर रहे हैं। प्राणक्रिया में जो वायु भीतर की ओर से नासिका द्वारा वाहिर की ओर निकलती है उसको प्रच्छर्दन कहते हैं, और प्राणक्रिया में जो वाहिर की वायु उदर में रखकर रोकी जाती है उसका नाम विधारण है; इस सूत्र में केवल प्रच्छर्दन अर्थात् रेचक, और विधारण अर्थात् कुम्भक का वर्णन किया गया है; परन्तु पूरक अर्थात् वायु भीतर को खेंचने का वर्णन नहीं किया है इस का कारण यह है कि विना पूरक के कुम्भक होही नहीं सकता तो उसका स्वतंत्र नाम लिखना पूज्यपाद महर्षि जी ने आवश्यक नहीं समझा। इसप्रकार प्राणवायु की क्रिया को रेचक, पूरक, कुम्भक अभ्यास द्वारा वशीभूत करने के अर्थ जो क्रियायें हैं उनको प्राणायाम कहते हैं; इस सूत्र का यही तात्पर्य है कि इस प्राणायाम क्रिया से भी अन्तःकरण को एकाग्र करके साधक मुक्तिपद को लाभ कर सकता है। पूज्यपाद महर्षिगणों का यही मत है, और यह प्रामाणिक भी है कि मन, वायु और वीर्य्य तीनों एक ही पदार्थ हैं अर्थात् मन कारण, वायु सूक्ष्म और वीर्य्य स्थूल विस्तार हैं; इन तीनों में से किसी एक को वशीभूत करने से तीनों वशीभूत होजाते हैं; इस ही कारण यह प्रामाणिक ही है कि जब प्राणायाम साधन से प्राण-वायु वशीभूत होकर ठहर जायगा तो मन अर्थात् अन्तःकरण आप ही एकाग्रता को प्राप्त होगा; और यह पहले कह ही चुके हैं कि एकाग्रता तबही पूर्णता को प्राप्त होसकती है जब कि शेष में अद्वैत

रूपी एकतत्व परमात्मा भाव रहजाय, तो शनैः शनैः वह साधक जब प्राणायाम क्रिया से मन को एकाग्र कर लेगा तो अन्त में अवश्य एकाग्रता की पूर्णावस्था को पहुंच कर मुक्त होजायगा। इस प्राणायाम के शास्त्रों में बहु प्रकार के भेद हैं जो श्रीगुरुमुख से ही प्राप्त होसकते हैं; साधन के जो मंत्रयोग, हठयोग, लययोग, और राजयोग यह चार प्रकार के भेद हैं उन सबों के आचार्य्यगणों ने ही इस प्राणायाम-क्रिया को ग्रहण किया है; परन्तु भेद इतना ही है कि किसी आचार्य्य ने एक प्रकार की क्रिया, किसी आचार्य्यने दो प्रकार की क्रिया और किसी आचार्य्य ने आठ प्रकार की क्रियायें ग्रहण की हैं; परन्तु सब ने ही इस प्राणायाम क्रिया को अति उत्तम समझकर साधन का प्रधान अंग करके वर्णन किया है। इस सूत्र का भी यही आशय है कि प्राणायाम साधन से भी साधक अन्तःकरण को एकाग्र करता हुआ मुक्ति अर्थात् कैवल्यपद को प्राप्त कर सकता है ।

विषयवतीवाप्रवृत्तिरुत्पन्नामनसःस्थिति निबंधनी ॥ ३५ ॥

अथवा जब दिव्यविषयवाली प्रवृत्ति उत्पन्न होकर उसही में अन्तःकरण लगे तो भी एकाग्रता होती है॥ ३५ ॥

महर्षि सूत्रकार अब एकाग्रता स्थापन का तीसरा उपाय कह रहे हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल, और पृथिवी इन पांचों भूतों से सृष्टि है, इन पांचों भूतों के पांच विषय हैं, यथा–शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, स्थूल से सूक्ष्म में लेआने के अर्थ यदि

अन्तःकरण को इन भूतों के स्वाभाविक दिव्य विषयों में एक स्थान पर ही लगा रक्खाजाय, तो शनैः शनैः अन्तःकरण एकाग्र होसक्ता है। इस विषय में उदाहरण दिया जाता है यथा नासिका के अग्रभाग में अन्तःकरण संयम करके वहां के स्वाभाविक दिव्य गन्ध में एकाग्रता अभ्यास कीजाय, अथवा रसना के अग्रभाग में उसी प्रकार रस रूप विषय में अन्तःकरण लगाने से शनैः शनैः एकाग्रता लाभ हो सक्ती है। यद्यपि अन्तःकरण के स्थिर करने के अर्थ यह सब क्रियायें स्वाभाविक ही हैं, तथापि इस प्रकार के क्रिया-साधन में भी शास्त्र और श्रीगुरु-उपदेश की आवश्यकता है; क्योंकि अप्रत्यक्ष देश लाभ करने में प्रत्यक्ष साधन की प्रवृत्ति की दृढ़ता तब तक कदापि नहीं होसक्ती जब तक निश्चय करानेवाला कोई प्रत्यक्ष उपदेशक न हो; और दृढ़ता ही फल प्राप्ति का एकमात्र उपाय है इस कारण जब विना उपदेश के दृढ़ता नहीं होसक्ती तो विना उपदेश के साधन में सफलकाम होना भी असम्भव है। इस सूत्र में जो विषयों में मन स्थिर करने का उपाय वर्णन किया गया है उसही के विचार से नाना प्रकार के साधन मार्गों में नाना प्रकार की क्रियायें निहित की गई हैं। इस सूत्र का यही आशय है कि स्थूल से अन्तःकरण को सूक्ष्म में लाकर तन्मात्रा रूपी किसी एक भूत के किसी एक विषय में अन्त करणका लय करने का अभ्यास करने से वह शनैः शनैः एकाग्र हो जायगा; और इस ही प्रकार एकाग्रता को प्राप्त करके परम कल्याण पद को लाभ कर सकेगा।

विशोकावाज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

अथवा शोक रहित प्रकाश में युक्त होने से भी एकाग्रता प्राप्त होती है॥ ३६॥

अन्तःकरण एकाग्र करने का अब चतुर्थ उपाय वर्णन किया जाता है। अन्तःकरण जब ज्ञान रूप शुद्ध सत्वगुण में ठहर जाता है अर्थात् साधक को जब गुरु उपदेश द्वारा निश्चयात्मक ज्ञान-प्रकाशयुक्त ज्योति दर्शन होने लगता है; जिसका रूप शास्त्रों में सूर्य्य, चन्द्रमा और मणि के सदृश वर्णन किया गया है, तो उस शोक रहित परमानन्दकारी ज्योति को दर्शन करते करते उस ही ज्योति में अन्तःकरण के लय करने से भी एकाग्रता प्राप्त हो-सक्ती है। शास्त्रों में इस ज्योति का ऐसा भी वर्णन पाया जाता है कि साम्यावस्था-प्रकृति का रूप ही ज्योतिर्मय है; वेदोक्त सिद्ध गायत्री मंत्र में जो ध्यान का वर्णन है वह इस ही ज्योतिर्मयी महा-विद्यारूपिणी प्रकृति का रूप है। वैषम्यावस्था -प्रकृति उसको कहते हैं कि जब प्रकृति में सदा सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों के तरङ्ग उठते ही रहैं; परन्तु साम्यावस्था-प्रकृति उसका नाम है कि जब यह त्रिगुणमय तरङ्ग शुद्ध सत्वगुण में लय होजाय; अर्थात् जब कोई तरङ्ग ही न रहै, और एकमात्र प्रकाश रूप सत्व-गुण भासमान रहै; इसही अवस्था का नाम साम्यावस्था-प्रकृति है; इस ही अवस्था को विद्या अर्थात शोक रहित प्रकाश, अर्थात् ज्ञानयुक्त अवस्था कहते हैं; अन्तःकरण जितना ही इस अव-स्था की ओर बढ़ता जाता है, उतना ही शुद्ध सत्वगुण का यह प्रकाश अधिक भासमान होता जाता है। इस सूत्र का यही आ-शय है कि जब यह ज्योति दर्शन होने लगे तो उस में अन्तःक-रण को एकाग्र कर देने से शनैः शनैः साधक एकाग्रता को लाभ करके भगवत्-साक्षात्कार कर कैवल्यपद को प्राप्त होजायगा।

अन्तःकरण को इन भूतों के स्वाभाविक दिव्य विषयों में एक स्थान पर ही लगा रक्खाजाय, तो शनैः शनैः अन्तःकरण एकाग्र होसक्ता है। इस विषय में उदाहरण दिया जाता है यथा नासिका के अग्रभाग में अन्तःकरण संयम करके वहां के स्वाभाविक दिव्य गन्ध में एकाग्रता अभ्यास कीजाय, अथवा रसना के अग्रभाग में उसी प्रकार रस रूप विषय में अन्तःकरण लगाने से शनैः शनैः एकाग्रता लाभ हो सक्ती है। यद्यपि अन्तःकरण के स्थिर करने के अर्थ यह सब क्रियायें स्वाभाविक ही हैं, तथापि इस प्रकार के क्रिया-साधन में भी शास्त्र और श्रीगुरु-उपदेश की आवश्यकता है ; क्योंकि अप्रत्यक्ष देश लाभ करने में प्रत्यक्ष साधन की प्रवृत्ति की दृढ़ता तब तक कदापि नहीं होसक्ती जब तक निश्चय करानेवाला कोई प्रत्यक्ष उपदेशक न हो ; और दृढ़ता ही फल प्राप्ति का एक मात्र उपाय है इस कारण जब विना उपदेश के दृढ़ता नहीं होसक्ती तो विना उपदेश के साधन में सफलकाम होना भी असम्भव है। इस सूत्र में जो विषयों में मन स्थिर करने का उपाय वर्णन किया गया है उसही के विचार से नाना प्रकार के साधन मार्गों में नाना प्रकार की क्रियायें निहित की गई हैं। इस सूत्र का यही आशय है कि स्थूल से अन्तःकरण को सूक्ष्म में लाकर तन्मात्रा रूपी किसी एक भूत के किसी एक विषय में अन्तःकरणका लय करने का अभ्यास करने से वह शनैः शनैः एकाग्र हो जायगा ; और इस ही प्रकार एकाग्रता को प्राप्त करके परम कल्याण पद को लाभ कर सकेगा।

विशोकावाज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

अथवा शोक रहित प्रकाश में युक्त होने से भी एकाग्रता प्राप्त होगी है॥ ३६॥

अन्तःकरण एकाग्र करने का अब चतुर्थ उपाय वर्णन किया जाता है। अन्तःकरण जब ज्ञान रूप शुद्ध सत्वगुण में ठहर जाता है अर्थात् साधक को जब गुरु उपदेश द्वारा निश्चयात्मक ज्ञान-प्रकाशयुक्त ज्योति दर्शन होने लगता है; जिसका रूप शास्त्रों में सूर्य्य, चन्द्रमा और मणि के सदृश वर्णन किया गया है, तो उस शोक रहित परमानन्दकारी ज्योति को दर्शन करते करते उस ही ज्योति में अन्तःकरण के लय करने से भी एकाग्रता प्राप्त हो-सकती है। शास्त्रों में इस ज्योति का ऐसा भी वर्णन पाया जाता है कि साम्यावस्था-प्रकृति का रूप ही ज्योतिर्मय है; वेदोक्त सिद्ध गायत्री मंत्र में जो ध्यान का वर्णन है वह इस ही ज्योतिर्मयी महा-विद्यारूपिणी प्रकृति का रूप है। वैषम्यावस्था -प्रकृति उसको कहते हैं कि जब प्रकृति में सदा सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों के तरङ्ग उठते ही रहैं; परन्तु साम्यावस्था-प्रकृति उसका नाम है कि जब यह त्रिगुणमय तरङ्ग शुद्ध सत्वगुण में लय होजाय; अर्थात् जब कोई तरङ्ग ही न रहै, और एकमात्र प्रकाश रूप सत्व-गुण भासमान रहै; इसही अवस्था का नाम साम्यावस्था-प्रकृति है; इस ही अवस्था को विद्या अर्थात शोक रहित प्रकाश, अर्थात् ज्ञानयुक्त अवस्था कहते हैं; अन्तःकरण जितना ही इस अव-स्था की ओर बढ़ता जाता है, उतना ही शुद्ध सत्वगुण का यह प्रकाश अधिक भासमान होता जाता है। इस सूत्र का यही आ-शय है कि जब यह ज्योति दर्शन होने लगे तो उस में अन्तःक-रण को एकाग्र कर देने से शनैः शनैः साधक एकाग्रता को लाभ करके भगवत्-साक्षात्कार कर कैवल्यपद को प्राप्त होजायगा।

वीतरागविषयंवाचित्तं ॥ ३७ ॥

अथवा वीतराग होने से भी एकाग्रता प्राप्त होती है ॥ ३७ ॥

अब इस सूत्र द्वारा एकाग्रता स्थापन का पञ्चम उपाय वर्णन कर रहे हैं। वीतराग अर्थात् जो वासना से रहित हो। वासना से रज और तमगुण की उत्पत्ति होती है; जहां राग नहीं अर्थात् वैराग्ययुक्त अन्त करण में केवल सत्त्वगुण ही बढ़ता जायगा। इस पवित्र भारतभूमि में वीतराग पुरुषों का अभाव त्रिकाल में नहीं है; पूर्वकाल में तो अनन्त उदाहरण मिलते हैं यथा सनक, सनन्दन आदि देवर्षि, श्रीभगवान् वेदव्यास, शुक आदि ब्रह्मर्षि और जनक आदि राजर्षि; जो भविष्यत् के मुमुक्षुगणों के अर्थ अपना सुन्दर चरित्र दृष्टान्त-स्वरूप कर रख गये हैं। उन महात्मागणों के दृष्टान्त पथ पर चलना अर्थात् उन की बताई हुई रीति ही के अनुसार अन्त करण को सकल प्रकार की वासनाओं से रहित करदेने से भी परम कल्याण प्राप्त हो सक्ता है। अर्थात् इस सूत्र से यही तात्पर्य है कि अन्त.करण जितना विषय-वैराग्ययुक्त होकर साधन द्वारा जितना ही वैराग्य की दृढ़ता स्थापन करता जायगा उतना ही वह अन्त.करण परा-वैराग्य की ओर अग्रसर होकर अन्त में एकाग्रता को स्थापनकर मुक्तिपद को प्राप्त कर लेवेगा।

स्वप्ननिद्राज्ञानावलम्बनंवा ॥ ३८ ॥

अथवा स्वप्न-निद्रा के बीच के ज्ञान में अन्त.करण को लय करने से एकाग्रता प्राप्त होतीहै ॥ ३८ ॥

अब इस सूत्र द्वारा मन को एकाग्र करने का छठा उपाय वर्णन किया जाता है। स्वप्न अवस्था उसे कहते हैं कि जिस अवस्था में अन्तःकरण तमगुण के आश्रित होकर वहिर्ज्ञान रहित होजाय परन्तु कुछ काम करता रहै; किन्तु निद्रावस्था में कुछ भी काम अन्तःकरण नहीं किया करता है; इन दोनों का विस्तारित विवरण पूर्व सूत्रों में आचुका है। जाग्रत से स्वप्न अवस्था को ग्रहण करने के समय और स्वप्न अवस्था से निद्रा अवस्था में जाने के समय जो दो मध्या अवस्था हुआ करती हैं जिनमें अन्तःकरण शून्य हो ठहरा रहता है; जिसका अनुभव कराने के अर्थ ऐसा भी कह सकते हैं कि जब स्वप्न और जाग्रत अवस्था के वीच में जो तन्द्रा अवस्था होती है उस ही प्रकार की अवस्था में सचेत रहकर अन्तःकरण को उसी ज्ञानयुक्त-शून्य-अवस्था में लय करने से एकाग्रता प्राप्त होसक्ती है। इस सूत्र का यही तात्पर्य है कि इसी प्रकार की वाह्यज्ञानशून्य किंतु अन्तःज्ञान सहित स्वप्न में की अथवा निद्रा में की शून्य-अवस्था में अन्तःकरण को लय करने से अन्तःकरण शनैः शनैः एकाग्र होता हुआ परम आनन्द पद को प्राप्त करसक्ता है।

अथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

अथवा इच्छा के अनुकूल किसी एक रूप में अन्तःकरण को लगाने से एकाग्रता प्राप्त होसकती है ॥ ३९॥

इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार अन्तःकरण एकाग्र करने का सातवां उपाय वर्णन कर रहे हैं। पूर्व सूत्रों में अन्तःकरण एकाग्र करने के नाना प्रकार के साधनों का वर्णन करके अब एक

साधारण साधन का वर्णन कर रहे हैं कि जिसके द्वारा अन्तः करण एकाग्र करने की युक्ति सार्व्वभौमरूप से घट जाय। सब जीवों की प्रकृति स्वतन्त्र स्वतन्त्र है ; इस कारण एक प्रकार का साधन सब जीवों का कल्याणकारी नहीं होसक्ता ; इसी कारण महर्षि सूत्रकार ने विचार द्वारा यह सात प्रकार की साधन मर्यादा वर्णन की ,जिस२साधक की जैसी२ रुचि होगी और जैसी२ प्रकृति होगी उसीके अनुसार श्रीगुरुदेव जिस२ को जिस२ प्रकार का उपदेश देना आवश्यक समझेंगे तो इनसातों उपायों में से किसी न किसी से उनका (साधकोंका) अवश्य कल्याण होगा। इस सूत्र का यह तात्पर्य है कि मन जब स्वतः ही प्रकृति के गुण अनुसार किसी न किसी विषय में लगता ही रहता है ; तो अन्तःकरण अपने स्वाभाविक गुण के अनुसार जिस पदार्थ में लगे वहीं उस को रोक दिया जाय, अर्थात् स्वभाव से ही जिस रूप का वह अनुमोदन करे उसी रूप के ध्यान करने में उस को लगा दिया जाय तो वह उस में सहज रीति से ठहर जायगा ; और इस प्रकार उसी को ध्यान करता हुआ एकाग्रता को प्राप्त होजायगा। यह पूर्व्व ही कह चुके हैं कि अन्तःकरण एकाग्र होने से प्रज्ञारूपी पूर्णज्ञान का उदय होकर अन्तःकरण योगयुक्त होजाता है ; तो इस रीति के अभिमत ध्यान द्वारा भी साधक योग प्राप्ति द्वारा भगवत्-साक्षात्कार कर मुक्त होसकता है। मनुष्य की इस प्रकृति और प्रवृत्ति विचित्रता के कारण ही सनातनधर्म्म में पंच उपासना और उस के साथ ही साथ प्रत्येक देवता के अनन्त रूप वर्णन किये हैं, अर्थात् साधक की जैसी रुचि होगी वैसी ही रुचि के अनुसार ध्यान द्वारा वह अपना कल्याण साधन करसकेगा।

परमाणुपरममहत्वान्तोऽस्यवशीकारः ॥४०॥

परमाणु से लेकर महास्थूल पदार्थों तक अन्तःकरण के ठहरने का स्थान है ॥ ४० ॥

पूर्व्व सूत्रों में साधन के उपाय वर्णन करके अब इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार उन साधनों का फल वर्णन कर रहे हैं। सृष्टि में दो प्रकार के पदार्थ हैं एक स्थूल, दूसरा सूक्ष्म; जैसे अन्त करण स्थूल पदार्थों के अवलम्बन से चंचल होता है वैसे ही सूक्ष्म पदार्थों के अवलम्बन से भी चंचल हो सक्ता है; यदिच साधक पूर्व्व कथित साधन स्थूल-पदार्थ अर्थात् दृश्यमान् वस्तु से लेकर सूक्ष्म-पदार्थ अर्थात् तन्मात्रा और परमाणु तक के अवलम्बन से कर सक्ता है; तथापि जब तक अन्त करण की वृत्तियां एक साथ ही निरुद्ध न होजांय तब तक स्थूल से लेकर सूक्ष्म दार्थों तक से उसके पुनः फँसजाने की सम्भावना है। इस कारण ाधन करते समय अन्त करण चाहे किसी एक पदार्थ के अवलम्बन से एकाग्रता प्राप्ति की चेष्टा करे, परन्तु अपने लक्ष को तब ही पहुंच सकता है जब वह इस दोनों अवस्थाओं से अतीत होजाय, अर्थात् एकाग्रता वृत्ति के साधन से जब उस में पूर्ण एकाग्रता का उदय होता है तब ही स्थूल से लेकर सूक्ष्म पदार्थ तक से वह स्वतंत्र होकर एक तत्त्व रूपी सब तत्त्वातीत उन परमतत्त्व परमात्मा में जाकर लय को प्राप्त होगा।

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येवमणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषुतत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः॥४१॥

जब अन्तःकरण की वृत्तियां क्षीण होजाती हैं तब उस अन्तःकरण की अवस्था स्फटिकमणि के समान होती है, अर्थात् जैसे स्फटिकमणि स्वयं स्वच्छ है परन्तु वह समीपस्थ पदार्थ के रंग को धारण करलेती है, ऐसे ही योगी का अन्तःकरण स्वयं स्वच्छ होताहै, परन्तु लक्ष के सहयोग से वह तदाकार प्राप्त होजाताहै इस ही अवस्था का नाम समापत्ति है ॥ ४१ ॥

वृत्ति क्षीण होनेपर अर्थात् जब एकाग्रता साधन से अन्तःकरण शुद्ध होकर विकल्प आदि मिथ्या-ज्ञान से रहित होजाता है, उस समय उस अन्तःकरण की दशा शुद्ध स्फटिकमणि के तुल्य होजाती है; अर्थात् स्फटिकमणि यथार्थ में स्वच्छ है परन्तु उसके सन्मुख कोई और रंग का पदार्थ रखने से वह तद्रूप ही होजाती है। अर्थात् यदि साधक का अन्तःकरण किसी स्थूल-भूत में एकाग्रता स्थापन करे अथवा किसी सूक्ष्म-भूत में एकाग्रता स्थापन करे, इस एकाग्रता साधन के अन्त में वह समापत्ति अवस्था को प्राप्त करके, अपनी ध्येय वस्तु (जो स्थूल हो अथवा सूक्ष्म हो)अर्थात् उस लक्ष्य वस्तु के रूप को प्राप्त कर लेवेगा; अर्थात उस अन्तःकरण में एकमात्र तदाकार भान के अतिरिक्त और कोई दूसरा भान नहीं रहेगा। यही तदाकार वृत्ति रूप समापत्ति अवस्था ही एकाग्रता रूप योग-साधन का प्रथम फल है; और इस अवस्था से ही क्रमशः प्रज्ञा लाभ करके सविकल्प-समाधि द्वारा निर्विकल्प-समाधि को प्राप्त करता हुआ साधक मुक्तिपद को लाभ करसक्ता है। अगली अवस्थाओं का वर्णन आगे के सूत्रों में आवेगा।

तत्रशब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णास-वितर्कासमापत्तिः ॥ ४२ ॥

शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प द्वारा समापत्ति सङ्कीर्ण और सवितर्क होती है ॥ ४२ ॥

अब पूर्व कथित समापत्ति-अवस्था के भेद वर्णन कर रहे हैं। जैसे गो शब्द, गो शब्द का अर्थ, और गो शब्द का ज्ञान, यह तीनों अवस्थाएँ कहीं अलग अलग रहती हैं और कहीं एक-रूप को ही प्राप्त होजाती हैं; अर्थात् प्रथम "गो" शब्द को कर्ण द्वारा सुना, पुन "गो" शब्द का अर्थ बोध हुआ, और तद्पश्चात् "गो" शब्द का ज्ञान रूपी "गो" में एकाग्रता हो-गइ; तैसे ही योगी का अन्त करण जब तक भिन्न भिन्न मार्गों का अनुसरण करता है अर्थात् योगी एकाग्र होकर जब तक शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों को भिन्न भिन्न रूपेण अनुभव करता रहता है तब तक उस की अवस्था का नाम सवितर्क-समापत्ति कहलाती है, इस अवस्था में समापत्ति की पूर्णावस्था को न प्राप्त करने से यह अवस्था सङ्कीर्ण हुई। इस से उन्नत दूसरी अवस्था का वर्णन आगे के सूत्र में किया जायगा।

स्मृतिपरिशुद्धौस्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासानिर्वितर्का ॥ ४३ ॥

स्मृति के शुद्ध होजाने पर जिस में अर्थ स्वरूप रहित के समान भान होता है वह निर्वितर्क समापत्ति कहाती है ॥ ४३ ॥

समापत्ति की अवस्था में शब्द संकेत अर्थात् शब्द का विचार, शब्दार्थ का अनुमान, विकल्प और स्मृति आदिका कुछ भी भान नहीं रहता; अर्थात् केवल ग्राह्य पदार्थ के रूप में पदार्थवत् प्रतीत होनेवाली बुद्धि ही रहजाती है; और पूर्व्व कथित सवितर्क अवस्था की शब्द, अर्थ और ज्ञान रूपी तीन अवस्थाओं में साधन के द्वारा लय होकर एक लक्ष रूप अवस्था को धारण करलेती है उसही एकाकार अवस्था का नाम निर्वितर्क समापत्ति है। यह पहले ही कह चुके हैं कि स्थूल-वस्तु अथवा सूक्ष्म-वस्तु में से किसी न किसी की सहायता से समापत्ति-लाभ होती है; उस समापत्ति की पूर्व्वावस्था जो निकृष्ट है उसका नाम सवितर्क समापत्ति है; और एकाग्रता दृढ़ होने से जब समापत्ति पूर्णावस्था को प्राप्त होजाती है तब ही उस उत्कृष्ट समापत्ति का नाम निर्वितर्क समापत्ति होगा। विषय चाहे स्थूल हो चाहे सूक्ष्म, चाहे दृश्यमान् पंचभूत हो चाहे अदृश्यमान् तन्मात्रा हो, इन्हीं की सहायता से निर्वितर्क समापत्ति होती है; यद्यपि समापत्ति की इस पूर्णावस्था में एकमात्र ज्ञान रूपी लक्ष के अतिरिक्त और कुछ भी भान नहीं रहता, तथच पंचभौतिक विषय तो विषय ही है, प्राकृतिक अवलम्बन जहां है वहां वह अवलम्बन अनित्य ही रहेगा; इस कारण एकाग्रता की चरमसीमा रूप निर्वितर्क-समापत्ति की अवस्था में पहुंचकर भी प्रकृति का सम्बन्ध रहता है; इस से परे की अवस्था में साधक-समाधि लाभ द्वारा प्रकृति का संग छोड़ परमात्मा रूपी पुरुष का संग करता हुआ उन के ही रूप को प्राप्त कर मुक्त होसक्ता है।

एतयैवसविचारानिर्विचारसूक्ष्मविषया-व्याख्याता ॥ ४४ ॥

ऐसे ही सविचार और निर्विचार सूक्ष्म विषय वाली दूसरी अवस्था भी समझना उचित है ॥ ४४ ॥

ऐसे ही अर्थात् जैसे उत्कृष्ट और निकृष्ट अवस्था - भेद से एकाग्रता स्थापन करनेवाली समापत्ति के दो भेद पूर्व सूत्रों में वर्णन कर आये हैं; वैसे ही आत्मदर्शन रूपा समाधि की प्रथम अवस्था के भी सविचार और निर्विचार भेद से दो भेद किये गये हैं। पूर्व कथित दो अवस्थाओं में अवलम्बन प्रकृति ही रहती है परन्तु इस सूत्र में कथित इन दो अवस्थाओं में (जो दो अवस्थाएँ पूर्व कथित दो अवस्थाओं से आगे की अवस्थाएँ हैं) अवलम्बन ईश्वर ही रहते हैं। सविचार अवस्था वह कहाती है कि जिसमें समाधि द्वारा सूक्ष्म भूत के आश्रय से देश,काल और निमित्त से संयुक्त होकर आत्मा का अनुभव मात्र किया जाय। और निर्विचार अवस्था वह कहाती है कि जिसमें सूक्ष्म-भूत आदि का कोई सम्बन्ध न रहे परन्तु केवल परमात्मा के साक्षात् सम्बन्ध से समाधि की जाय। इन दोनों अवस्थाओं में ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय भेद से आत्म-साक्षात्कार होता रहता है, परन्तु सविचार रूपी जो निकृष्ट अवस्था है उस में तो सूक्ष्मरूपी प्रकृति का सम्बन्ध रहने के कारण आत्मा का केवल अप्रत्यक्ष अनुभव मात्र ही होता है; किन्तु निर्विचार रूपी जो उत्कृ-ष्ट अवस्था है उस में प्रकृति का भान छूट जाने के कारण ज्ञाता,

ज्ञान और ज्ञेय वृत्ति के अनुसार परमात्मा का साक्षात् सम्बन्ध रहता है। यह भेद सविकल्प समाधि के हैं; निर्विकल्प समाधि की अवस्था इस अवस्था से भी आगे के अधिकार में हुआ करती है, और तद्परचात् निर्विकल्प समाधि की पूर्णावस्था को प्राप्त करके साधक मुक्त हो सकता है।

सूक्ष्मविषयत्वंचालिङ्गपर्य्यवसानम् ॥ ४५ ॥

सूक्ष्म विषय की अवधि अलिंग पर्य्यंत है ॥ ४५ ॥

पृथिवी के अणु का सूक्ष्म विषय गन्ध है, उसही प्रकार जल के परमाणु का रस, अग्नि के परमाणु का रूप, वायु के परमाणु का स्पर्श, और आकाश के परमाणु का शब्द सूक्ष्म विषय है। यह विषय तन्मात्रा कहाती हैं, अहंकार में इन तन्मात्राओं के लिङ्ग अर्थात् चिन्ह इन के सूक्ष्म विषय कारण रूप करके रहते हैं, जब अहंकार सहित इन सूक्ष्मातीत सूक्ष्म विषयों के आगे और कुछ भी नहीं है तो यही अलिङ्ग कहाते हैं। इस अवस्था को और रीति से भी इस प्रकार समझ सकते हैं कि गुण के हेर फेर से, स्थूल सूक्ष्म के विचार से, लिङ्ग के चार भेद हैं; यथा—विशिष्टलिङ्ग, अवशिष्टलिङ्ग, लिङ्ग और अलिङ्ग; स्थूल-भूत और इन्द्रियां विशिष्टलिङ्ग हैं, सूक्ष्म भूत और तन्मात्राऐं अविशिष्ट लिङ्ग हैं, बुद्धि रूपेण शुद्ध अन्तः-करण लिङ्ग है, और अन्त करण से अतीत अहंतत्त्व रूपेण प्रधान ही अलिङ्ग कहाता है। इस अलिङ्ग अवस्था से अधिक और कोई सूक्ष्म विषय नहीं होसकता, यदि ऐसा प्रश्न हो कि पुरुष इन से परे है इस कारण वह इन से भी सूक्ष्म हुए ? इस

के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जैसे लिङ्ग अवस्था से पेरे अलिङ्ग का सूक्ष्म भान है, वैसा पुरुष में नहीं हो सकता; जैसे अलिङ्ग-अवस्था लिङ्ग-अवस्था का समवायी-कारण है, वैसा सम्बन्ध अलिंग अवस्था का पुरुष से नहीं है; पुरुष प्रकृति से सम्पूर्ण स्वतंत्र हैं, किन्तु प्रधान तक प्रकृति का राज्य है, इस कारण पुरुष अलिंग के सूक्ष्म कारण नहीं हो सकते। इस सूत्र का यही तात्पर्य है कि स्थूल जगत् से लेकर अलिङ्ग अर्थात् प्रधान तक विषय रहते हैं; परन्तु इस शेष अवस्थारूपी अलिङ्ग में विषय सूक्ष्मतिसूक्ष्म हो जाते हैं, इस से आगे और सूक्ष्म होने की सम्भावना नहीं। निर्विकल्प समाधि में प्रकृति का सम्बन्ध ही नहीं रहता वह अवस्था इस अवस्था से परे है।

ताएवसबीजासमाधिः ॥ ४६ ॥

वेही सबीज समाधि हैं ॥ ४६ ॥

पूर्व सूत्र में कही हुई चार प्रकार की अवस्थाएं; अर्थात् सवितर्क-समापत्ति, निर्वितर्क समापत्ति, सविचार-समाधि और निर्विचार समाधि की अवस्थाएँ सबीजा समाधि कहाती हैं। इन चारों अवस्थाओं में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय रूपेण अवलम्बन रहता है; जब अवलम्बन है तो बीज रहा, इसही कारण यह अवस्थाएँ सबीजा हैं। इन से आगे निर्बीज अवस्था होती है और उसी अवस्था से साधक निर्विकल्प-समाधि प्राप्त करके मुक्त होसक्ता है। उसका वर्णन आगे सूत्रों में आवेगा।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥४७॥

जिसका कि वर्णन पूर्व्व सूत्र में हुआ है वह ऐसी असम्पूर्ण नहीं है, उसमें सत्वगुण रूपी ज्ञान का पूर्ण प्रकाश होने के कारण उससे कोई भी विषय छिप नहीं सक्ता; चाहे स्थूल से स्थूल विषय हो, चाहे सूक्ष्म से सूक्ष्मातीत विषय हो, ऋतम्भरा-बुद्धि-प्राप्त साधक समाधिस्थ होकर उन सब विषयों को प्रत्यक्ष ज्ञान से यथावत् जान सक्ता है; इस कारण यह प्रज्ञा सर्व प्रकार की बुद्धि से कुछ विलक्षण ही है ।

तज्जःसंस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

इस समाधि द्वारा उत्पन्न हुए संस्कार से और संस्कार सब नष्ट होजाते हैं ॥ ५० ॥

पूर्व्व सूत्र में ऋतम्भरा-बुद्धि के विशेष लक्षण और गुण वर्णन करके अब उससे जो विशेष फल की प्राप्ति होती है वह वर्णन कर रहे हैं । इस अवस्था में अन्तःकरण में जो संस्कार उत्पन्न होता है वह अन्तःकरण के सम्पूर्ण पूर्व्व संस्कारों का नाश कर देता है । नाना विषयों के संस्कार नष्ट होजाने से विषय-ज्ञान भी नष्ट होजाता है, जब विषय-ज्ञान नष्ट होजाताहै तब ही निर्विषय रूपी शुद्ध ऋतम्भरा-बुद्धि का उदय होता है; उस समय उसमें समाधिस्थ-बुद्धि के संस्कार के अतिरिक्त और कोई संस्कार शेष नहीं रहते; और पूर्ण रूपेण जब वैषयिक संस्कारों का नाश होजाता है तब पुनः अन्तःकरण में उनके प्रकट होने की और कोई सम्भावना नहीं रहती; इसी प्रकार से ऋतम्भरा-बुद्धि रूपी निर्म्मल प्रवाह से चित्त रूपी शिला पर के संस्कार रूपी मल के चिन्ह पूर्ण रूपेण धुन जाते हैं ।

तस्याऽपिनिरोधेसर्व्वनिरोधान्निर्वीजः समाधिः॥ ५१ ॥

जब ऐसी समाधि द्वारा अन्तःकरण की वृत्तियों का पूर्ण रूपेण निरोध होजाता है तब निर्वीज-समाधि होती है ॥ ५१ ॥

इस प्रकार से अन्तःकरण की वृत्तियां पूर्ण रूपेण निरोध होजाने से जब सविकल्प-समाधि की पूर्णावस्था में साधक पहुंच जाता है, तब निर्वीज अर्थात् निर्विकल्प-समाधि का उदय होता है। इस अवस्था में सम्प्रज्ञात संस्कार तक का निरोध अर्थात् लय होजाता है, और उस से पहले अन्तःकरण की सब वृत्तियां अपने अपने कारणों में लय होती हुई सम्प्रज्ञात-संस्कार में लय होही चुकीं थीं, इस कारण इस अवस्था में पुरुष पूर्ण रूपेण निर्म्मल होकर अपने रूप को प्राप्त होजाता है। इस ही अवस्था में पुरुष का अपने रूप को प्राप्त होना, अथवा जीवात्मा की अवस्था का नाश होकर उसका परमात्मा में लय होना ही मुक्ति अथवा कैवल्य है।

इति पातञ्जलेः सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे समाधिपादः प्रथमः।

निर्विचार समाधि में पूर्व कथित अध्यात्म-प्रसाद का उदय होता है ॥ ४७॥

पूर्व प्रमाणों से यह सिद्ध ही होचुका है कि सवितर्क-समापत्ति से निर्वितर्क-समापत्ति, निर्वितर्क-समापत्ति से सविचार-समाधि, और सविचार-समाधि से निर्विचार-समाधि क्रमशः उन्नत हैं। इस शेष अवस्था में अर्थात् निर्विचार-समाधि में प्रकृति सम्पूर्ण रूपेण शुद्ध हो जाने से, रज और तमगुण का लय होजाता है; और तब सत्वगुण का पूर्ण प्रकाश होने से अन्तःकरण में अध्यात्म-प्रसाद का उदय होता है। रज और तमगुण ही दुःख के कारण है, इस अवस्था में उन दोनों गुणों का लय होजाने से योगी सब दुःखों से रहित होकर, परमानन्दमय परमात्मा के साक्षात्कार से आत्म-प्रसाद रूपी परमानन्द का भोग करने लगता है।

ऋतंभरेतितत्रप्रज्ञा ॥ ४८ ॥

उस अवस्था में जो बुद्धि होती है उसे ऋतम्भरा कहते है ॥ ४८ ॥

इस पूर्व सूत्र कथित अवस्था में पूर्ण सत्वगुण के उदय होने से बुद्धि भी पूर्ण सात्विकी होजाती है, अन्तःकरण में जब तक रज और तमगुण का प्रभाव रहता है तब तक चंचलता रहने के कारण बुद्धि का पूर्ण रूपेण प्रकाश नहीं होसकता, परन्तु इस निर्विचार-समाधि की अवस्था में रज और तमगुण के लय के साथ बुद्धि की चंचलता भी नष्ट होजाती है; तब उस अन्तः

रण में विपर्य्य आदि मिथ्याज्ञान होने की कोई भी सम्भावना
नहीं रहती; समस्त पदार्थ यथावत् प्रतीत होने लगते हैं; इस ही
अवस्था की बुद्धि को वेदान्त आदि शास्त्रों ने प्रबोध कहा है, और
योग-शास्त्र में इसी को ऋतम्भरा कहते हैं।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया-
विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

यह बुद्धि श्रुत और अनुमान बुद्धि से विलक्षण होती है ॥ ४९ ॥

जिस विषय का ज्ञान शब्द-श्रवण द्वारा हुआ करता है
वह ज्ञान सम्पूर्ण नहीं होसक्ता; चाहे कितना ही शब्द द्वारा भावों
को प्रकाश किया जाय तो भी विषय की सूक्ष्मता, विषय के भावों
का विस्तार, विषय के गुण, और विषय के कर्म्मों का ठीक ठीक
पता नहीं लग सक्ता। इसी प्रकार जिस विषय का ज्ञान अनु-
मान द्वारा होता है, वह ज्ञान भी सम्पूर्णता को प्राप्त नहीं होता; यदि
दूरवर्त्ती पर्वत में धूम के देखने से अग्नि का होना अनुमान-सिद्ध
होजाता है, परन्तु वह अग्नि कितनी है, किस पदार्थ की अग्नि है
इत्यादि सूक्ष्म कारणों का ज्ञान अनुमान से नहीं होसक्ता। जहां
तक अनुमान और शब्द प्रवेश कर सक्ते हैं वहीं तक वे ज्ञान का भी
अनुभव करा सक्ते हैं, परन्तु उससे आगे वे कुछ भी नहीं कर-
सक्ते; उदाहरण में ऐसा कह सक्ते हैं कि जितने लौकिक प्रत्यक्ष
पदार्थ हैं, अर्थात् इन्द्रिय द्वारा जो ग्राह्य होते हैं उनहीं को शब्द
और अनुमान प्रकाशित कर सक्ते हैं, परन्तु सूक्ष्मातिसूक्ष्म वि-
षयों को वे दोनों प्रकाश करने में असमर्थ हैं। समाधिगत बुद्धि

॥ श्रीहरिः ॥

द्वितीयपादः ।

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिक्रियायोगः॥१॥

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-भक्ति को क्रिया योग कहते हैं ॥ १ ॥

प्रथमपाद में महर्षि सूत्रकार सावधान साधक अर्थात् स्थिर-अन्तःकरण के लिये सम्प्रज्ञात आदि योगों का वर्णन करके अब इस साधन नामक द्वितीयपाद में अस्थिर अन्तःकरण वाले साधकों के अर्थ विविधि साधनों का उपाय वर्णन कर रहे हैं। जिन ज्ञानी साधकगणों के अन्तःकरण ने उन्नत-भूमि में पहुंचकर अस्थिरता को त्याग दिया है, उनके लिये पूर्व्वपाद में कहे हुये साधन ही कल्याणकारी हैं; परन्तु जिन निम्न अधिकारी साधकगणों का चित्त अभी निर्मल नहीं हुआ है किन्तु मुक्ति की इच्छा उन में उत्पन्न होगई है, उनको उचित है कि वे यथाक्रम से तप, स्वाध्याय और ईश्वर-भक्ति करते रहें; तो शनैः शनैः वे भी उन्नत-भूमि में पहुंचकर, समाधिस्थ हो कैवल्यपद को प्राप्त करके मुक्त होजावेंगे। धर्म्म-शास्त्रोक्त व्रत, नियम आदि के पालन करने और उनमें दृढ़ता-युक्त होकर सहनशीलता के अभ्यास करने को तप कहते हैं; तपश्चर्या रहित पुरुषों को योग की सिद्धि होना असम्भव है, क्योंकि अनादि कर्म्म और अविद्या आदि क्लेशों की वासना से उत्पन्न हुआ विषय-जाल

ौर अन्त करण के नाना मल विना तप साधन किये चीण
ाहीं होते; तप-साधन से ही अन्त करण शुद्ध होकर साधन शक्ति
की माप्ति होसकृती है । प्रणव आदि सिद्ध मंत्रों का जप और
मोच उपदेशक शास्त्रों के अध्ययन को स्वाध्याय कहते हैं; स्वा-
ध्याय से अन्तःकरण की ज्ञान भूमि की उन्नति होती है और
ामश. साधक अपने लक्ष को स्थिर करके आगे बढ़ सकता है।
ीश्वर-भक्ति का वर्णन पूर्व पाद में भलीभांति आही चुका है,
परन्तु इस सूत्र में ईश्वर-भक्ति शब्द से गौणी-भक्ति का तात्पर्य
है; जिस गौणी-भक्ति के साधन द्वारा क्रमशः पराभक्ति की माप्ति
हुआ करती है। ईश्वर-तद्गतभाव रूप पराभक्ति के प्राप्त करने
के अर्थ जो भक्ति-शास्त्रों में श्रवण, मनन, कीर्तन और उपासना
मादि साधन वर्णित हैं उन्हीं को गौणी-भक्ति कहते हैं । इस
मकार तप की सहायता से ईश्वर प्रणिधान में उन्नति करता हुआ
साधक समाधि की ओर अग्रसर होता जायगा ।

समाधिभावनार्थःक्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

वह समाधि के सिद्ध करने और क्लेशों के दूर करने के अर्थ
किया जाता है ॥ २ ॥

वह से तात्पर्य क्रिया-योग का क्रम है जैसा पूर्व सूत्र में कह चुके
हैं । वह क्रिया-योग जब पूर्णता को माप्त होता है तब नाना वृत्ति
रूपी अन्त करण के नाना क्लेशों को दग्ध बीज के नाई नष्ट कर-
देता है; ईश्वर-प्रणिधान के साधक की कैसे सद्‌गति हो सकती
है इसका प्रमाण पूर्व पाद में भलीभांति वर्णन कर चुके हैं;
उस ही प्रकार साधक के हृदय में जब भगवत् प्रेम का उदय होजाता

है तब सब क्लेशों की निवृत्ति अपने आपही होजाती है । और इसी प्रकार वह साधक उन्नत अधिकार को प्राप्त करता हुआ क्रमशः निर्विकल्प समाधि को प्राप्त कर मुक्त होजाता है ।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ॥ ३ ॥

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश यह पांच प्रकार क्लेशों के भेद हैं ॥ ३ ॥

यह पांच प्रकार के क्लेश अर्थात् मिथ्याज्ञान जैसे जैसे बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे ही तमोगुण की वृद्धि द्वारा जीव में अहंकार का दृढ़ करते हुए अन्तःकरण में अज्ञान रूप जड़ता की वृद्धि करते जाते हैं; और इसी रीति से क्रमशः संसार की सुख दुःख रूपी दो नदियां एक दूसरी की सहायता द्वारा प्रबल वेग से बहती हुई जीव को डुबाय देती हैं । इन पांच प्रकार के क्लेशों का पूर्ण रूपेण वर्णन आगे के सूत्रों में आवेगा ।

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषांप्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

और सब क्लेशों का अविद्या ही कारण है, चाहे उसकी अवस्था उदार, तनु, प्रसुप्त, और विच्छिन्न हो ॥ ४ ॥

अविद्या से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, अविद्या से ही चैतन्यमय जीव अपनेआपको जड़मय मानकर माया में फंस

या है; यह आदि कारण रूपी अविद्या ही और नाना क्लेशों
का कारण है। इस अविद्या की चार भूमि हैं यथा-प्रसुप्त, तनु,
विच्छिन्न और उदार। प्रसुप्त का अर्थ सोना है; जब यह अविद्या निद्रा
रूप से अन्तःकरण में रहती है; अर्थात् बहिरङ्गों से उसका कोई
भी सम्बन्ध तब तक प्रतीत नहीं होता जब तक किसी कारण से
वह जाग न जाय; जैसे बालक के अन्तःकरण में क्लेश आदि
वृत्ति हैं तो सही, परन्तु सदानन्दमय बालक में उनकी स्फूर्त्ति तब
तक नहीं होती जब तक कोई बाहर के कारण से वह क्लेशित न
हो। तनु का अर्थ हलका होना है; अर्थात् एक वृत्ति जब किसी
दूसरी वृत्ति के दबाव से हलकी अर्थात् क्षीण होजाती है अविद्या
की उस अवस्था का नाम तनु है; जैसे चक्रवर्त्ती राजा के भय से
आधीन राजागण उस चक्रवर्त्ती राजा की आधीनता को सम्पूर्ण
रूपेण स्वीकार करके मित्र तो बन जाते हैं, परन्तु उनके मन से
क्षीण भावापन्न शत्रुता नहीं जाती। विच्छिन्न का अर्थ अलग
अलग होना है; अर्थात् परस्पर सहायकारी दो वृत्तियों के उदय
के समय एक के पश्चात् दूसरी का अनुभव होता है जैसे
काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है परन्तु क्रोध उत्पन्न होते
समय काम वृत्ति अलग हट जाती है; इस ही छिन्न भिन्न अवस्था का
नाम विच्छिन्न है। जब किसी वृत्ति का पूर्ण-रूपेण प्रकाश होता
है, जैसे कि सांसारिक साधारण कर्म्मों में प्रतीत होता है; वृत्ति
की उस पूर्णावस्था का नाम उदार है। यह पूर्व्व ही कह चुके हैं
कि जैसे क्षुद्र वट-बीज महान् वट-वृक्ष का कारण रूप है, वैसे ही
नाना वृत्तिमयी-सृष्टि का कारण अविद्या रूपी बीज है; जैसे
बीज को एक बार दग्ध करने से पुनः उस से अङ्कुरोत्पत्ति होकर

वृत्त होने की कोई भी सम्भावना नहीं रहती, इसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि से अविद्या रूप बीज दग्ध होजाने से पुनः नाना वृत्तिमयी सृष्टि होने की सम्भावना नहीं रहती। इस सूत्र में अविद्या का फल वर्णन किया गया, अब अगले सूत्र में उसके लक्षण वर्णन किये जायँगे।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसुनित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

अनित्य को नित्य समझना, अपवित्र को पवित्र समझना, दुःख को सुख समझना, और अनात्माको आत्मा ज्ञान करानेवाली बुद्धि को अविद्या कहते हैं ॥ ५ ॥

अविद्या से ही विपरीत-ज्ञान की उत्पत्ति होती है, यह अविद्या ही का कारण है कि जिस से नाश होनेवाले संसार रूपी इहलोक और स्वर्ग आदि परलोकों को जीव नित्य करके मान रहा है; यह अविद्या ही का कारण है कि जिससे विष्ठा, मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ यह शरीर पवित्र सा प्रतीत होता है; और मांस और वशा का विकार रूपी स्त्री-शरीर मनोहर सा जान पड़ता है; यह अविद्या ही का कारण है कि जिससे नाशवान् और परम दुःखदायी विषयों को जीव सुखदायी समझ रहा है; और यह अविद्या ही का कारण है कि जिससे अनात्मा अर्थात् जड़रूपी इस पञ्च-भौतिक शरीर को जीव आत्मा अर्थात् चेतन करके मान रहा है। इस प्रकार नाना रूप मिथ्याज्ञान में जीव के फँसाने का एक मात्र अविद्या ही कारण है; और उसही अविद्या से मोहित हुआ जीव सदा अनित्य

में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख, और अनात्मा में आत्मबुद्धि करता रहता है। अविद्या के कारण से ही जीव मोहित होकर पाप-कार्यों को पुण्य-कार्य और अधर्म्म को धर्म्म मान कर सदा दुःख में ही फँसा रहता है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता ॥ ६ ॥

द्रष्टा और दर्शन-शक्ति में अभेद-ज्ञान को अस्मिता कहते हैं ॥६॥

पुरुष अर्थात् ईश्वर और जीव इन उभय में ही ज्ञान अर्थात् देखने की शक्ति विद्यमान है; और बुद्धि रूपी अन्तःकरण में दिखलाने की शक्ति है। स्वयं देखनेवाला और देखने का यंत्र एक पदार्थ नहीं होसकता; परन्तु जिस कारण द्वारा देखनेवाला जीव और दिखाने का यंत्र-रूपी-अन्तःकरण एक पदार्थ ही प्रतीत होते हैं माया के उसी प्रभाव का नाम अस्मिता है। सर्व्वशक्तिमान पूर्णज्ञानमय परमेश्वर अस्मिता से रहित हैं, इस कारण उनमें कोई भी भ्रम नहीं; परन्तु जीव के ज्ञानअंश ने जीव में और अन्तःकरण में एकता स्थापन कर रक्खी है, इसही कारण जड़ रूपी अन्तःकरण के किये हुये कामों का कर्त्ता चेतन रूपी जीवात्मा अपने आपको मान लेता है; और इस भ्रम-ज्ञान से ही अपने में और अन्तःकरण में अभेद समझकर जीव सकल प्रकार के दुःखों को भोगता रहता है।

सुखानुशयीरागः ॥ ७ ॥

सुख के अनुसरण पूर्व्वक जो उस में प्रवृत्ति होती है उसका नाम राग है ॥ ७ ॥

सुख भोगने के पश्चात्, उस सुख को स्मरण करके उस सुख-वृत्ति में जो लोभ अर्थात् इच्छा होती है; उसका नाम राग है। इसही राग के कारण अन्तःकरण रूपी जलाशय में तरङ्ग पर तरङ्ग लहराया करते हैं। रागरूपी इच्छा से ही जीव विषयरूपी फन्दे में फँसजाया करता है।

दुःखानुशयीद्वेषः ॥ ८॥

दुःख के अनुस्मरण को द्वेष कहते हैं ॥ ८॥

दुःख के जाननेवाले में दुःखानुस्मरण के द्वारा दुःख में अथवा उसके साधन में क्रोधवृत्ति के समतुल्य और राग-वृत्ति के विपरीत जो एक वृत्ति हुआ करती है उसका नाम द्वेष है। दुःख का लक्षण पहले सूत्रों में ही कह चुके हैं, इसकारण यहां उसका विशेष वर्णन नहीं कियागया; उन्हीं दुःखों के स्मरण से दुःखदायी पदार्थों में दुःख के भय से जो तीव्र अनिच्छा अर्थात् राग के विपरीत वृत्ति हो उसी का नाम द्वेष-वृत्ति है।

स्वरसवाहीविदुषोऽपितथारूढोऽभिनिवेशः॥९।

अपने स्वभाव को प्राप्त करनेवाले पण्डित गणों तक में जो प्राप्त होनेवाली वृत्ति है वही अभिनिवेश है ॥ ९ ॥

चाहे मूर्ख हो चाहे पंडित, चाहे ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी, चाहे निरक्षर किसान हो चाहे वेदपाठी विप्र, सब में एक रूप से जो आत्महितचिन्तन रूपी वृत्ति है उसको ही अभिनिवेश कहते हैं। प्राणी मात्र को ही आत्महितचिन्तन सदा बना रहता है; " मैंश्र-

मर रहूं ,, ऐसी इच्छा विद्वानगणों तक में देखने में आती है; प-
रन्तु बिना मृत्यु-रूप-दुःख-भोग भोगे जीव का यह आत्महित-
चिन्तन असम्भव है । मृत्यु में अनिच्छा और चिरआयु होने में
इच्छा रूप जीव की इस सामान्य वृत्ति का कारण मृत्युभय ही
है; क्योंकि पूर्व जन्मों में मरते समय इस जीव को जो नाना क्ले-
शों की प्राप्ति हुई थी उन घोर क्लेशों के अनुभव से ही प्राणी-
मात्र को मृत्यु में अनिच्छा होती है; पुनर्जन्म सिद्ध होने का यह भी
एक प्रमाण है; सद्यप्रसूत बालक और ज्ञान रहित कीट तक में जो
मृत्युभय देखने में आता है वह पूर्व जन्म के ही संस्कार का कारण
है; यदिच उनको प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द-प्रमाण से मृत्यु के
दुःखों का ज्ञान नहीं हुआ था तत्रच उनको यह भय हुआ; इस से
यह सिद्ध होता है कि अवश्य कोई पूर्व कारण है, वही पुनर्जन्म है;
पुनर्जन्म में अनुभव हुआ था, इस कारण संस्काराधीन होकर अब
भी उसका बोध हुआ । इस ही मृत्युभय रूपी क्लेश को अभिनिवे-
श कहते हैं ।

तेप्रतिप्रसवहेयाःसूक्ष्माः ॥ १० ॥

वे सूक्ष्म रूप से त्याग होते हैं ॥ १० ॥

वे अर्थात् पूर्व्वोक्त पांचों क्लेश जिनका वर्णन भली भांति
होचुका है । समाधि-पाद में जो व्याधि आदि चित्त के विक्षेप
और योग के विघ्न-समूह का वर्णन किया गया है, उन सबों के
मूल में यह पांच प्रकार के क्लेश हैं; इसकारण महर्षि सूत्रकार
पहले इन क्लेशों के लक्षण वर्णन करके अब उनके नाश के

उपाय वर्णन कर रहे हैं। योगाभिलाषी को प्रथम ही क्लेशों का त्याग कर देना उचित है, परन्तु विना यथार्थ रूप के जाने किसी वस्तु का त्याग अथवा ग्रहण नहीं किया जासक्ता; इसकारण पूर्व्व सूत्रों में उनके लक्षण, उद्देश, और उत्पत्तिस्थान का वर्णन करके अब उनके त्याग का उपाय वर्णन कर रहे हैं। इन पांच प्रकार के क्लेशों को दो अवस्थाओं में विभक्त कर सक्ते हैं, यथा—एक सूक्ष्म अवस्था, और दूसरी स्थूल अवस्था; सूक्ष्म अर्थात् अन्तःकरण में कारण रूपेण, और स्थूल अर्थात् विस्तृत रूपेण। इस सूत्र का यही तात्पर्य है कि सूक्ष्म-अवस्थापन्न क्लेश वीजनाश के समान योग में अन्तःकरण लीन होने से उसही के संग अस्त होजाते हैं, और स्थित रहने पर भी उनकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती। स्थूल-क्लेशों के लय करने का उपाय पर सूत्र में कहा जायगा, परन्तु सूक्ष्म--क्लेशों के विषय में इतना ही कहा गया कि वे अपने कारण रूप अन्तःकरण में ही अन्तःकरण के निरोध करने से लय को प्राप्त होजाते हैं।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

और वह वृत्तिया ध्यान से त्यागने योग्य हैं ॥ ११ ॥

पूर्व्व सूत्र में सूक्ष्म-वृत्ति के नाश होने का उपाय वर्णन करके अब इस सूत्र में स्थूल-अवस्था के नाश होने का उपाय वर्णन कर रहे हैं। जिन क्लेशों का कार्य्य आरम्भ होरहा है ऐसी विस्तृत वृत्तियों को ही स्थूल-वृत्ति कर जानना उचित है; यह स्थूल वृत्तियां अन्तःकरण पर आधिपत्य जमा चुकी हैं, इसकारण अन्तःकरण

को जब तक ध्यानादिक योग-क्रियाओं द्वारा नहीं रोका जायगा, तब तक वे भी नहीं रुक सकीं, इसकारण यह स्थूल वृत्तियां ध्यान रूप क्रिया-योग से ही नाश करने योग्य हैं। जैसे वस्त्र पर का स्थूल-मल पहिले जल से धौत करने से छूट जाता है, पुनः पीछे से साबुन अथवा-क्षार आदि लगाने से सूक्ष्म-मल भी छूट सकता है; इसी प्रकार ध्यानादिक क्रियाओं द्वारा अन्तःकरण को ठहराने से उसके साथ ही स्थूल-वृत्तियां लय होजाती हैं, और पुन: बीज रूपेण रही सही सूक्ष्म वृत्तियां अन्त करण समाधिस्थ होने पर लय को प्राप्त होजाती हैं। इस सूत्र का यही तात्पर्य है कि नि-यमित ध्यानादि साधन द्वारा महाक्लेशदायक स्थूल वृत्तियां भी अति-क्षीण होकर अन्त करण में लय को प्राप्त होजाती हैं, और तब ही साधक इन महा शत्रुओं से बच सकता है।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टाऽदृष्टजन्म-वेदनीयः ॥ १२ ॥

पंचक्लेशों के मूल कर्म समूह हैं, और वे दृष्ट और अदृष्ट जन्मो मे भोगे जाते हैं ॥ १२ ॥

पूर्व सूत्रों द्वारा महर्षि सूत्रकार प्रथम में क्लेशों के भेदों का वर्णन करके तदनन्तर क्लेशों की निवृत्ति का उपाय कह कर, अब इस सूत्र द्वारा कर्माशय का वर्णन कर रहे हैं। पाप और पुण्य रूपी शुभ और अशुभ कर्म ही पूर्वोक्त क्लेशों के कारण हैं, उन कर्मों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, यथा—एक दृष्टजन्म-वेदनीय और दूसरा अदृष्टजन्म वेदनीय । जिन कर्मों

का फल इसी जन्म में भोग होजाता है वे दृष्टजन्म-वेदनीय कहाते हैं; उसी प्रकार जिन कर्म्मों का भोग इस जन्म में नहीं होता, केवल उनके संस्कार साथ रहकर परजन्मों में भोग की उत्पत्ति करते हैं, ऐसे कर्म्म अदृष्टजन्म-वेदनीय कहलाते हैं । दृष्टजन्म-वेदनीय और अदृष्टजन्म-वेदनीय कर्म्म, किये हुए सत् असत् कर्म्मों की तीव्र और लघु गति के अनुसार हुआ करते हैं । जो सत् अथवा असत् कर्म्मों का वल इतना तीव्र हो कि जिस से वह जीव के इस जन्म के कर्म्मों को भेदन कर अपने कर्म्मों के फल उत्पन्न कर सके वेही तीव्र कर्म्म दृष्टजन्म-वेदनीय कह-लाते हैं; जैसे महात्मा नन्दीश्वर देवादिदेव महादेव का तीव्र तप करने से उसी जन्म में मनुष्य-योनि से देव-योनि को प्राप्त हुए; और जिस प्रकार तीव्र सत्-कर्म्म द्वारा नन्दीश्वर देवता हुए, उसी प्रकार तीव्र असत्–कर्म्म द्वारा एक ही जन्म में राजा नहुप को तिर्य्यक्–योनि प्राप्त हुई थी; यदिच इस जन्म के किये हुए कर्म्मों का फल जन्मान्तर में ही भोग हुआ करता है, परन्तु कदाचित् जब सत् असत् कर्म्मों का वेग अति उग्र होता है तो तीव्रता के कारण वह इस जन्म में ही फलदायक हो जाता है; कर्म्म की इसी अलौकिक और विशेष अवस्था को ही दृष्टजन्म-वेद्नीय कहते हैं । अदृष्टजन्म-वेदनीय कर्म्मों का स्वरूप साधारण ही है, क्योंकि साधारण जीवों में इसही कर्म्म की प्र-वलता देखने में आती है; यदि ऐसा न होता तो जीव के किये हुए पाप और पुण्य कर्म्मों का फल हाथों हाथ ही मिलजाता; इन कर्म्मों के संस्कार जीव के अन्तःकरण में वीज रूपेण रहकर जन्मान्तर में वृक्ष रूपेण होकर फल प्रदान किया करते हैं ।

कर्म्मों के फल देनेवाली इन दो अवस्थाओं को कर्म्माशय कहते हैं; कर्म्माशय से ही फल की उत्पत्ति होकर जीवों को पूर्वोक्त पंच-क्लेश प्रदान किया करती हैं। यद्यपि दृष्ट और अदृष्ट भेद से महर्षि सूत्रकार ने कर्म्मों के दो ही भेद लिखे हैं, परन्तु वेदान्त आदि शास्त्रों में इन को तीन प्रकार से समझाया गया है; जिसका ज्ञान होने से इस सूत्र का अर्थ और भी सरल होजागा। अवस्था-भेद से कर्म्मों को तीन प्रकार में विभक्त कर सकते हैं, यथा—प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण। अनन्त जन्मों से जो जीव कर्म्म कर रहे हैं और जिनके भोग भोगने की वारी अभी जीव को नहीं मिली है, केवल संस्कार रूपेण जीव के कर्म्माशय में हैं उन कर्म्मों को प्रारब्ध कहते हैं; जिन कर्म्मों को जीव अब नवीन संग्रह करता जाता है, अर्थात् नवीन इच्छा से जो नवीन कर्म्म उत्पन्न होकर नवीन संस्कार उत्पन्न करते जाते हैं वेही संचित कर्म्म हैं; और कर्म्माशय में भरे हुए अनन्त कर्म्मों में से जिन थोड़े से कर्म्मों ने जीव के संग आयकर इस शरीर रूपी फल की उत्पत्ति करदी है, अर्थात् जिसका फल-भोग इस जन्म में होरहा है वही क्रियमाण कर्म्म कहाते हैं। साधारण रीति तो यह है कि क्रियमाण कर्म्मों का ही फल जीव को इस जन्म में मिला करता है, और संचित और प्रारब्ध कर्म्म का फल जीव गण को जन्मान्तर में क्रम क्रम से मिलेगा; परन्तु इस सूत्र में यही कहा गया है कि यदि संचित कर्म्म कभी कभी प्रबल हों तो वे भी क्रियमाण कर्म्मों के साथ मिलकर इसी जन्म में ही फल दे जाते हैं। इसकारण अपनी शास्त्रोक्त ज्ञान-भूमि के अनुसार एवं योग-विज्ञान-सिद्धकारी दृष्ट अर्थात् जिनका फल जीव

को इसी जन्म में मिले, और अदृष्ट अर्थात् जिनका फल जीव को जन्मान्तर में मिले, महर्षि सूत्रकार ने कर्म्मों के ये दो ही भेद किये हैं ।

सतिमूलेतद्विपाकोजात्यायुर्भोगः ॥ १३ ॥

क्लेश मूल रहने से उनका फल जाति, आयु और भोग होता है ॥१३॥

यह पूर्व सूत्र में ही कह आये हैं कि संस्कार-विशिष्ट-कर्म्मों की अवस्था को कर्म्माशय कहते हैं; जब उस कर्म्माशय के कर्म्मरूप बीज से भोग रूप वृक्ष की उत्पत्ति होती है उसे विपाक कहते हैं । जिस प्रकार जब तक तण्डुल के ऊपर तुप लगा रहता है तब तक वह तुप-सहित तण्डुल अर्थात् धान बोने से वह बीज जम सक्ता है; उसी प्रकार जब तक क्लेश विद्यमान् रहते हैं अर्थात् साधन द्वारा जब तक पूर्वोक्त क्लेशों का लय नहीं कर दिया जाता, तब तक कर्म्माशय से विपाक रूपी कर्म्म-फल उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है । यह कर्म्म-विपाक तीन प्रकार का होता है, यथा—एक जाति, दूसरा आयु, तीसरा भोग । जिस समुदाय के व्यक्तियों के गुण परस्पर मिलते हों उस समुदाय का नाम जाति है; गुण ही कर्म्मों के सहायक हैं इसकारण गुण और कर्म्मभेद से ही जातिभेद हुआ है; यथा—जीव की उद्भिज, स्वेदज, अंडज, और जरायुज जाति हैं, उसही प्रकार मनुष्य की ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति हैं । जीव का सूक्ष्म-शरीर भोग शरीर नहीं है, अर्थात् स्थूल शरीर की सहायता से जीव कर्म्म-भोग करता है; एक स्थूल-शरीर के साथ जितने दिन जीव का सम्बन्ध रहे उसे आयु कहते हैं, यथा—

एक मनुष्य की आयु जन्म से मृत्यु पर्यन्त है। विषय, इन्द्रिय और तन्मात्रा की सहायता से अन्तःकरण में सुखज्ञान और दुःखज्ञान होने का नाम भोग है। इस प्रकार कर्म्माशय रूपी कर्म्म बीज से जो विपाक रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है उसके जाति, आयु और भोग रूपी तीन प्रकार के फल हुआ करते हैं । कर्म्माशय से कर्म्म-विपाक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिज्ञासुगणों को यह सन्देह होसक्ता है कि एक कर्म्म एक ही जन्म का कारण हुआ करता है, वा एक कर्म्म अनेक जन्म का कारण हुआ करता है? दूसरा सन्देह यह होसक्ता है कि, अनेक कर्म्म अनेक जन्म देते हैं अथवा अनेक कर्म्म एक जन्म ही उत्पन्न करते हैं? इनके उत्तर में विचारने योग्य है कि यदि एक कर्म्म को ही एक जन्म का कारण समझें तो बड़ी ही कठिनता पड़ेगी, क्योंकि अनादि काल से अनादि सृष्टि द्वारा असंख्य कर्म्म-समूहों में से यदि परमेश्वर जीव को एक ही कर्म्म से एक जन्म का दान करते हों तो कर्म्म-संग्रह के समय जब कि कर्म्म करने का कोई भी नियम नहीं है अर्थात् एक ही दिन में अथवा थोड़े ही समय के बीच में मनुष्य देवयोनि, पशुयोनि, और मनुष्य योनि आदि कई योनियों के उपयुक्त कर्म्म संग्रह कर सक्ता है, तो उसही क्रम के अनुसार जन्म भी होना उचित है; परन्तु ऐसा मानने से कोई भी शैली विचार के योग्य नहीं पाई जायगी, और भगवत्-अभ्रान्त नियम में अनियम रूपी भ्रान्ति देख पड़ेगी, इस कारण ऐसा नहीं हो सक्ता; और ऐसा मानने से मनुष्यों को घबराहट भी बहुत होगी, क्योंकि यदि एक दिन में भ्रम वश मनुष्य सत्कर्म्मों के साथ एक पशुयोनि प्राप्ति उपयोगी-कर्म्म करडाले, और चाहे पुनः देवयोनि

का कर्म्म करे, परन्तु इस नियम को मानने से बीच में उसको पथ्र होना ही पड़ेगा, इस कारण से भी यह असम्भव है। यदि एक कर्म्म से अनेक जन्मों का होना मानें तो अगले पिछले अनन्त कर्म्म विफल जायेंगे; क्योंकि यदि एक ही कर्म्म से अनेक जन्मों की उत्पत्ति होगी तो किये हुए और अनेक कर्म्मों के फलों की बारी आना असम्भव है। इसीप्रकार अनेक-कर्म्म अनेक-जन्मों के कारण भी नहीं होसक्ते; क्योंकि एक समय में अनेक जन्मों का होना असम्भव है। इन सब विचारों से यही सिद्धान्त हुआ कि अगले और पिछले सब कर्म्म कर्म्माशय रूपी एक ही स्थान में मिल जाते हैं, और क्रमशः प्रधान और अप्रधान होकर फल देते हुए दृष्ट और अदृष्ट रूप से जन्म और जन्मान्तर की उत्पत्ति करते जाते हैं; अर्थात् जो कर्म्म प्रधान होंगे उन्हीं से जाति, आयु, और भोग रूपी एक जन्म की प्राप्ति होगी; और इसी जन्म में यदि कोई तीव्र काम किया जायगा जैसा कि पूर्व्व सूत्र में कह आये हैं तो वह भी इन प्रधान कर्म्मों से मिल कर इस ही जन्म में फल प्रदान करेगा; और इसी रीति से पर-जन्म में भी अप्रधान कर्म्मों से कुछ प्रधान-कर्म्म होकर वे दूसरे जन्म की सृष्टि करेंगे।

तेऽह्लादपरितापफलाःपुण्याऽपुण्य हेतुत्वात् ॥ १४ ॥

ये पुण्य और पाप के हेतु से सुख और दुःख फल-युक्त होते हैं ॥१४॥

ये अर्थात् जाति, आयु और भोग। संसार में कर्म्म दो प्रकार

के होते हैं; एक पुण्यरूप शुभकर्म्म, और दूसरा पापरूप अशु-
भकर्म्म। इसी कारण जाति, आयु और भोग रूपी कर्म्म-विपा-
क पुण्य अर्थात् सुखदायक और पाप अर्थात् दुःखदायक होता
है; पुण्यकर्म्म से आरम्भ हुए जाति, आयु और भोग सुखदाय-
क हैं, उसी प्रकार पापकर्म्म से आरम्भ किये हुए जाति, आयु
और भोग से दुःख की प्राप्ति होती है। यह सुख दुःख रूपी
भ्रान्त-अनुभव कीट आदि से लेकर मनुष्य पर्य्यन्त हुआ करता
है; परन्तु ज्ञानी योगीगणों को कुछ और ही अनुभव होता है;
इस का वर्णन अगले सूत्र में किया जायगा।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च
दुःखमेवसर्वंविवेकिनः॥ १५॥

प्रकृति विरुद्ध होने से, क्लेश-संस्कार से, तमोगुण आदि की वृत्तियों
से जो कुछ होता है विवेकवान् योगीगण उस सब को दुःख
ही मानते हैं ॥ १५ ॥

सुख और दुःख का ज्ञान प्राणीमात्र को राग के द्वारा हुआ
करता है; जहां राग है वहां राग की विरुद्ध-वृत्ति भी होगी, राग
की उस विरुद्ध-वृत्ति का नाम द्वेष है; इन राग और द्वेष में विना
मनन किये संस्कार के वश अपनेआपही जो मोहावृत-वृत्ति
इन दोनों के अभाव से स्वतः ही उठती रहती है उसका नाम
मोह-वृत्ति है। इस कारण जीव जो कुछ कर्म्म करता है, वे या-
तो राग से उत्पन्न होकर रागज कर्म्म कहाते हैं, अथवा द्वेष से
उत्पन्न होकर द्वेषज-कर्म्म कहाते हैं, अथवा मोह से उत्पन्न होकर

मोहज–कर्म्म कहाते हैं; यह तीन प्रकार के कर्म्म जीवगण किया करते हैं। इन कर्म्मों का फल दो प्रकार का होता है, एक सुखदायक दूसरा दुःखदायक; सूक्ष्म विचार से यही सिद्ध होगा कि सुखदायक कर्म्म और दुःखदायक कर्म्म में इतनाही अन्तर है कि, जिस कर्म्म के भोग से जीव की इन्द्रिय तृप्त होती हैं वह तो सुख कहाता है, और जिन कर्म्मों के द्वारा जीव की इन्द्रियगण तृप्त नहीं होने से चंचल होती रहती है वेही दुःख कहाते हैं। इस विचार के विरुद्ध में देहवादीगण यदि सन्देह करें कि ऐसा नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियगण विषय-भोग से स्वयं ही थक कर शान्त होजाती हैं, इस कारण विषय भोग से ही शान्ति लाभ हो सकती है। इस प्रश्न के उत्तर में यह कथनीय है कि यदि प्रकृति की अवस्था एक ही होती तो कदापि ऐसा सम्भव होसकता था, परन्तु प्रकृति त्रिगुणमयी और अस्थिर है, एक अवस्था के अनन्तर दूसरी अवस्था का होना अवश्य सम्भव है, जब विषय–भोग से इन्द्रियगण तमगुण को प्राप्त होकर शान्त से प्रतीत होने लगते हैं, उनके उस शान्त होने का कारण तमगुण है, परन्तु पुनः जब स्वाभाविक नियम के अनुसार गुण का परिवर्तन होकर तमगुण के स्थान में रजगुण की स्फूर्ति होगी तो अवश्य वे इन्द्रियगण कार्य्य करने के योग्य होकर पुनः अपने लक्षों को ढूंढने लगेंगे; जिस भांति घृत की आहुति से अग्नि शान्त नहीं होती परन्तु क्षणभर के लिये ज्वालाहीन होकर पुनः तीव्रतर ज्वाला को धारण करती है, उसी प्रकार जीव के इन्द्रियगण विषय-भोग से शान्त नहीं होते परन्तु पुनः पुनः अभ्यास द्वारा सबलता धारण करके विषय-भोग में प्रबलतर होते जाते हैं। ऐसे विचार से योगीगण सुख और दुःख इन दोनों को

ही परम दु ख मानते हैं। जिस प्रकार शारीरिक रोगों के निवृत्त-
करनेवाला आयुर्वेद-शास्त्र चतुर्व्यूह अर्थात् रोग, हेतु, आरोग्य
और चिकित्सा इन चारों से शरीर के रोगों का नाश करता है;
उस ही, प्रकार भवरोग-नाशकारी योग शास्त्र अपने चतुर्व्यूह
अर्थात् संसार रूप, संसार हेतु, मोक्ष और मोक्षपायी-संस्कार
(जिससे योगी को यह संसार दुःख का कारण ही प्रतीत होता
हो) इन चार उपायों से जीव के महान् भवरोग का नाश
करता है। जीव-हितकारी पूज्यपाद महर्षिगणों ने दर्शन-शास्त्र
द्वारा सुख और दुःख का विचार करते हुए यही सिद्धान्त
किया है कि, वास्तव में सुख और दुःख दोनों एक ही पदार्थ
हैं; क्योंकि सुख के अभाव को दुःख और दुःख के अभाव
को ही सुख मानते हैं, अर्थात् जब इन्द्रियगण अपने विषयों
के प्राप्त करने के अर्थ चंचल हो रहे थे और उस चंचलता
से जो अन्त करण की विकलता थी उसी विकलता का नाम
दु ख है; पुनः जब विषय की प्राप्ति से इन्द्रियगण अपने लक्ष
को प्राप्त करके थोड़ी देर के लिये चंचलता-रहित होजाते
हैं उसी अवस्था का नाम सुख है; तदनन्तर पुनः विषय क्षण-
भंगुर होने के कारण इन्द्रियगणों की उस अवस्था का परि-
वर्त्तन हो जाता है, अवलम्बन के नाश से पूर्ववत् वे चंचल
हो कर दुःख की उत्पत्ति करते हैं, इसी क्रम से सुख से दुःख
और दुःख से सुख की प्राप्ति होती है; इसी कारण परस्पर
एक दूसरे का कारण होने के कारण ज्ञानवान् योगीगण
दोनों को ही दुःख रूप मानते हैं। स्वरूप के विचार से दुःख
की तीन अवस्थाएँ होती हैं, यथा—एक ताप दुःखता, दूसरी

परिणाम–दुःखता, और तीसरी संस्कार–दुःखता। सुख अवस्था में अपने समान मनुष्यों को देखकर ईर्षा, निकृष्टों को देखकर घृणा आदि वृत्तियों से जो एक प्रकार दुःख की उत्पत्ति होती है उस अवस्था का नाम ताप–दुःखता है; सुखभोग होते ही अर्थात् जिस विषय के प्राप्त करने के अर्थ इन्द्रियें धावित हुई थीं उस विषय के पूर्ण होने पर [जैसे कि रति के अन्त में] जो विकलता का पुनः उदय होता है उस अवस्था का नाम परिणाम–दुःखता है; और विषय-भोग का काल अतीत होजाने से [जैसे वृद्धावस्था में विषय-सुख की स्मृति] पुनः प्राप्ति में निराश हो पूर्व सुख की स्मृति द्वारा जो दुःख की प्राप्ति होती है उस अवस्था का नाम संस्कार-दुःखता है। यह तीनों प्रकार का दुःख रूपी परिणाम प्रत्येक सुख के साथ लगा हुआ है, ऐसे विचार–युक्त होकर ही प्रज्ञायुक्त योगीगण सुख और दुःख उभय को ही सुवर्णमयी शृंखल और लोहमयी शृंखल के न्यांई परिणामतः बन्धन रूप समझते हुए दुःख रूपी जानते हैं। पिछले सूत्रों में कह चुके हैं कि मिथ्याज्ञानरूपी अविद्या ही क्लेश, कर्म्म और कर्म्मफल-समूहों का कारण है; अब इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार ने यही सिद्धान्त कर दिखाया है कि इन से जो सुख और दुःख रूपी फलों की उत्पत्ति होती है उन के मूल में अविद्या होने के कारण यथार्थ में वे दोनों ही परम–दुःख रूपी हैं; इस कारण योगयुक्त ज्ञानी–पुरुष के विचार में वे त्यागने योग्य ही हैं।

हेयंदुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

अप्राप्त दुःख ही त्यागने योग्य है ॥ १६ ॥

जो दुःख-भोग होचुका है उसके लिये तो कुछ कहने योग्य ही नहीं है; जो अब वर्त्तमान काल में भोग होरहा है वह भी विचारने योग्य नहीं हैं, क्योंकि यह दोनों दुःख ही जीव के सम्मुख आय चुके हैं; अब केवल वही दुःख विचारने योग्य है जो भविष्यत् में आवेगा, अर्थात् जिसका भोग अभी आरम्भ नहीं हुआ है परन्तु होना अवश्य सम्भव है। उसही अप्राप्त दुःख की गति को विचार कर योगीगण सदा त्याग कर देने में पुरुषार्थ करते हैं; महर्षि सूत्रकार का इस सूत्र से यही तात्पर्य है कि अप्राप्त दुःख ही को साधकगण त्यागने योग्य समझ कर साधन करें। अगले सूत्र में इसका हेतु वर्णन किया जाता है।

द्रष्टृदृश्ययोःसंयोगोहेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टा और दृश्य का संयोग त्यागने योग्य है ॥ १७ ॥

द्रष्टा अर्थात् देखनेवाला, दृश्य अर्थात् जो देखा जाय इन दोनों का जो एकत्व-सम्बन्ध है वही त्यागने योग्य है। द्रष्टा पुरुष, दृश्य अर्थात् बुद्धि-तत्त्व-रूपी-अन्तःकरण के साथ अविद्या के कारण मिलकर अपने आपको अन्तःकरणवत् मानने लगता है, यह माननाही द्रष्टा और दृश्य का एकत्व-सम्बन्ध है। अनादि अविद्या के कारण जब शुद्ध-मुक्त चैतन्य अपने आपको अन्तःकरण मानने लगा तब जड़ रूपी त्रिगुणात्मक प्रकृति के स्वाभाविक गुणों द्वारा प्राकृतिक अन्तःकरण में भी परिवर्त्तन होने लगा, अर्थात् विषयों की सहायता से अन्तःकरण विषयवत् होकर उस

को उनहीं विषयों के कारण सुख दु ख रूपी क्लेशों का अनुभव होने लगा और वही अनुभव चैतन्य रूपी पुरुष को भी पहुंचने लगा। जैसे संसार में अनेक बालक हैं, और पीड़ा भी अनेक बालकों को होती है परन्तु पीड़ित बालक को पीड़ा की यंत्रणा से क्लेशित देखकर उस बालक की स्नेहमयी जननी जिस प्रकार अपने आपको क्लेशित मानके क्लेश अनुभव करती है, परन्तु उस प्रकार संसार के और बालकों को क्लेशित देखकर क्लेश अनुभव नहीं करती; तैसे ही शुद्ध-मुक्त चैतन्य ने भी अविद्या के कारण अपनेआपको जड़मय अन्त करण मान रक्खा है, इसी कारण अन्तःकरण के अनुभव किये हुए क्लेशों को वे अनुभव किया करते हैं। इस सूत्र से महर्षि सूत्रकार का यही तात्पर्य्य है कि द्रष्टा-पुरुष और दृश्य अन्तःकरण का जो एकत्व सम्बन्ध है, आदि-कारण होने से यही सब क्लेशों का मूल है, इसकारण मुमुक्षुगणों को यह द्रष्टा और दृश्य का एकत्व-सम्बन्ध त्याग देने योग्य है।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलंभूतेन्द्रियात्मकं भोगाऽपवर्गार्थंदृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाश, क्रिया, स्थिति, युक्त-इन्द्रिय आदि के मूल-भोग मोक्ष के हेतु को दृश्य कहते हैं ॥ १८ ॥

सत्वगुण का स्वभाव प्रकाश है, रजोगुण का स्वभाव क्रिया करना है, और तमोगुण का स्वभाव स्थिति अर्थात् आलस्य है। प्रकाश, क्रिया और स्थिति रूपी सत्व, रज और

तमगुण प्रकृति के स्वभावसिद्ध गुण हैं, यह तीनों परस्पर मिले-जुले रहते हैं, जहां जिस गुण की प्राधान्यता होती है वहां उसी गुण का रूप दिखाई देता है, और इसी प्राधान्यता के कारण उस गुण और उस गुण के कार्य को उसी गुण का कहते हैं; यथा—यद्दिच नैष्ठिक ब्राह्मण में रज और तमगुण का अंश भी वर्त्तमान है तत्रच सत्वगुण की प्राधान्यता के कारण उस ब्राह्मण को, उसके कर्म्मों को और उसके गुण को सात्विक ही कहेंगे । त्रिगुणमयी-प्रकृति का विस्तार ही यह संसार है; जिह्वा, नासिका, कर्ण, नेत्र और त्वचा रूपी पञ्चइन्द्रिय रस, गन्ध, शब्द, रूप और स्पर्श रूपी पंच तन्मात्रा की सहायता से त्रिगुणप्रकृतिमय अन्तःकरण वहिर्विषयों को ग्रहण करता हुआ अपनी गुण प्राधान्यता के अनुसार सृष्टि किया करता है, इस कारण सृष्टि केवल त्रिगुणमयी-प्रकृति का विस्तार मात्र ही है । यह पूर्व्व ही कह चुके है कि निष्क्रिय पुरुष अविद्या के कारण अपनेआपको अन्तःकरण माने हुए हैं, इस कारण जैसे प्रतापशाली दिग्विजयी महाराजा के नाना योद्धा-गण ही जय पराजय रूपी युद्ध कार्य्य किया करते हैं, परन्तु उनके किये हुये कर्म्मों का फल उस नृपवर में ही आरोपित होकर वही उन फलों का भोगी होता है; वैसे ही प्रकृति के किये हुए बन्धन और मोक्ष रूपी कर्म्मों का भोगी पुरुष होजाता है । द्रष्टा पुरुष, और दृश्य प्रकृति है, अविद्या के कारण जबतक द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध है तब तक सृष्टि है और तवही तक भोग भी है, यह सम्बन्ध छूटजाने से ही मुक्त-स्वभाव पुरुष प्रकृति के फन्दे से छूटकर मुक्त होजायगा ।

विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

गुणों की चार अवस्थाऐं हैं; यथा—विशेषावस्था, अविशेषावस्था, लिङ्गावस्था और अलिङ्गावस्था ॥ १९ ॥

सांख्यदर्शनकर्त्ता महर्षि कपिल ने त्रिगुणमयी-प्रकृति को चौबीस-तत्त्वों में विभक्त किया है; यथा—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी यह पांच भूत कहाते हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह पांच तन्मात्रा कहाती हैं, कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका यह पांच ज्ञान-इन्द्रिय कहाती हैं, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और गुदा यह पांचों कर्म्म-इन्द्रिय कहाती हैं, और इन सबों के आधार रूपी अन्तःकरण के मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार यह चार भेद हैं; इसप्रकार यह सब मिलकर त्रिगुणमयी-प्रकृति के चौबीस भेद हुए । इन्हीं चौबीस तत्त्वों की स्थूल सूक्ष्म और कारण भेद से तीन अवस्थाऐं, और अविद्या-मोहित पुरुष की प्रथम अवस्था, यह सब मिलकर गुण के चार भेद कहाते हैं; यथा—पञ्च-भूत और पञ्च-कर्म्मइन्द्रिय तक विशेषावस्था, पञ्च-ज्ञान-इन्द्रिय और पञ्च-तन्मात्रा तक अविशेषावस्था, ज्ञान के आधार अन्तःकरण तक लिङ्गावस्था, और अविद्या से मोहित पुरुष रूपी प्रधान की अवस्था ही अलिङ्गावस्था कहाती है। योगिगणों को इन चारों अवस्थाओं का ज्ञान होना उचित है।

दृष्टादृशिमात्रःशुद्धोऽपिप्रत्ययानुपश्यः॥२०॥

द्रष्टा यद्यपि साक्षीमात्र है तथापि दृश्य के रूप में भान होता है ॥२०॥

पूर्व सूत्र में महर्षि सूत्रकार दृश्य के रूप को विस्तृत रूपेण वर्णन करके, अब इस सूत्र द्वारा द्रष्टा का रूप वर्णन कर रहे हैं। ज्ञान रूपी बुद्धि द्वारा ही जीव सत् असत् कर्म्मों का विचार कर-सक्ता है; जीव का आधारस्थल अन्तःकरण है, और अन्तःकरण की प्रधान वृत्ति बुद्धि है; बुद्धि ही पुरुष से निकट सम्बन्ध रखती है। जब विचारवान् पुरुष को अपनी बुद्धि के सत् असत् होने का विचार हुआ करता है, तो इससे यह भी प्रमाणित होता है कि बुद्धि की सत् असत् अवस्था का विचार करनेवाला पुरुष ही है; जब तक बहिर्दृष्टि वृद्धि होने का कारण बुद्धि चंचल रहती है तब तक उस में यह विचार नहीं आसक्ता, पुनः बुद्धि स्थिर होने पर ज्ञान रूपी पुरुष की सहायता से वह इस विचार करने की योग्यता को प्राप्त कर लेता है; ज्ञानरूपी चेतन पुरुष की सहायता से ही बुद्धि में सत् असत् विचार रूपी ज्ञान की शक्ति होती है, बुद्धि में जितना पुरुष का सम्बन्ध अधिक होता जाता है उतनी ही बुद्धि की शक्ति बढ़ती जाती है; इन्हीं कारणों से बुद्धि की और पुरुष की स्वतंत्रता सिद्ध होती है। द्रष्टा पुरुष शुद्ध साक्षीरूप और केवल चेतन मात्र हैं, दृश्य प्रकृति के संग से संग-दोष के कारण उन में प्रकृति के दोष भान होने लगते हैं।

तदर्थएवदृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

उस कहे हुए हेतु से दृश्य का ही आत्मा है ॥ २१ ॥

पूर्व्व कहे हुए हेतु से अर्थात् पूर्व्व सूत्रमें जैसे लक्षण वर्णन किये गये हैं उसही हेतु से दृष्टा का कर्म्म अर्थात् दर्शन रूपी विषयता को प्राप्त हुआ जो पदार्थ है वही दृश्य कहाता है; उस के ही कारण दृश्य की स्थिति है। यह पहले ही कहचुके हैं कि सृष्टि-क्रिया दृश्य अर्थात् प्रकृति करती है, पुरुष निष्क्रिय है; परन्तु द्रष्टा अर्थात् पुरुष और दृश्य अर्थात् प्रकृति का एकत्र-सम्बन्ध होने के कारण दृश्य के किए हुए कार्य्य को द्रष्टा अपना करके मानता है। अब इस सूत्र में महर्षि सूत्रकार यह कहते हैं कि यदिच ऐसा ही है तत्रच प्रकृति जोकुछ करती है वह पुरुष के भोग के अर्थ ही करती है; जिस प्रकार पुत्र के उत्पन्न होनेपर माता के स्तन में दुग्ध का होना स्वाभाविक है, परन्तु वह दुग्ध पुत्र के भोगार्थ ही उत्पन्न हुआ है। पुरुष की स्थिति है, इस कारण ही प्रकृति की भी स्थिति है, यदि पुरुष का अस्तित्व न होता तो प्रकृति भी कदापि न रह सक्ती।

कृतार्थंप्रतिनष्टमऽप्यनष्टंतदन्य साधारणत्वात् ॥२२॥

एक पुरुष के संग की प्रकृति का रूप नष्ट हुआ है, परन्तु वास्तव में प्रकृति नष्ट नहीं है; क्योंकि दूसरे में भान होती है॥२२॥

द्रष्टा अर्थात् पुरुष के निमित्त ही दृश्य अर्थात् प्रकृति का प्रयोजन है जैसा कि पूर्व्व सूत्र में कह चुके हैं, इस कारण यदि ऐसा सन्देह उठे कि जब दृश्य ही परिणाम-रहित और अक्रिय होजायगा तो जगत् के सभी दृष्टा मुक्त होजायँगे।

इसके उत्तर में यह कथनीय है कि यदिच ज्ञान के उदय होने
जब अविद्यारूपी भ्रम का नाश होजाता है तो दृश्य-पदार्थ
की नष्टता को प्राप्त होजाता है, परन्तु ऐसे पूर्ण-ज्ञानरूपी ऋतं-
म्भरा का उदय होना और दृश्य रूपी प्रकृति का नष्ट होना
एक ही जीव में होता है; तत्रच प्रकृति और पुरुष का अनादि और
अनन्त-सम्बन्ध और और असंख्य जीवों में रहता ही है; जिस
में दृश्य नष्ट होजाता है केवल उसही का दृष्टा मुक्त होजाता है
परन्तु दृष्टा और दृश्य का सम्बन्ध प्राप्त हुए अनन्त जीव अनादि
काल से हैं और अनन्त-काल तक रहेंगे । जिस पुरुष में की
प्रकृति नष्ट होगई है केवल उसी में प्रकृति का अन्त समझना
उचित है, परन्तु और और अनन्त-जीवों में प्रकृति अनन्त ही
रहेगी ।

स्वस्वामिशक्त्योःस्वरूपोपलब्धि हेतुस्संयोगः ॥ २३ ॥

स्व अर्थात् दृश्य-शक्तियों के स्वरूप की प्राप्ति का जो कारण हो उसे संयोग कहते हैं ॥ २३ ॥

आत्मा जब अपने रूप के देखने में प्रवृत्त होता है परन्तु
मध्य में जो और और वृत्तियों के संयोग होजाने से वह अपने
रूप को नहीं पहुंच सक्ता, उसकी इस अवस्था का नाम भोगा-
वस्था है; और जब पुरुष साधन द्वारा अपने रूप अर्थात् परमा-
त्मा के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है उस अवस्था का नाम मो-
क्षावस्था है; परन्तु जहां दर्शन-रूप-क्रिया का अन्त होता है वहीं

संयोग की प्राप्ति होती है। अब विचारने का विषय यह है कि, दर्शन ही वियोग का कारण है क्योंकि जब किसी का संयोग होता है उसका वियोग भी अवश्य होता है; इसी कारण से अ दर्शन भी संयोग का हेतु कहा जासक्ता है। इस शास्त्र में दर्शन को मोक्ष का कारण नहीं कहागया है: अर्थात् पूर्व्व सूत्रों में जो संयोग का कथन है वह दृश्य-पदार्थ के संयोग के समान नहीं है किन्तु वह एक विलक्षण ही संयोग है। इस सूत्र में केवल कार्य्य द्वारा संयोग का लक्षण दिखाया गया है; अर्थात् दृश्य का स्वभाव सृष्टि-क्रिया है, और द्रष्टा का स्वभाव अध्यक्षता है; इन दोनों अवस्थाओं में संवेद्य और संवेदक भाव को सम्बन्ध कहते हैं, इस सम्बन्ध में जो दोनों का ज्ञान होता है उसी को संयोग कहते हैं। यह संयोग स्वाभाविक और विलक्षण ही है; भोग्य और भोक्ता दोनों नित्य हैं उनके स्वरूप से अतिरिक्त यह संयोग कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है, परन्तु भोग्य का जो भोग्यत्व है और भोक्ता का जो भोक्तृत्व है वही अनादि सिद्ध संयोग का अनुभव है।

तस्यहेतुरविद्या ॥ २४ ॥

तिसका हेतु अर्थात् कारण अविद्या है ॥ २४ ॥

इस सूत्र में महर्षि सूत्रकार पूर्व्व सूत्र कथित संयोग का कारण वर्णन कर रहे हैं। अविद्या जिसका वर्णन पूर्व्व सूत्रों में कर चुके हैं वह अर्थात् विपरीत-ज्ञान की वासना से भरी हुई बुद्धि आत्मज्ञान को प्राप्त नहीं करा सक्ती; अर्थात् जब तक अन्तःकरण में वासना है तब तक वह वासनायुक्त पदार्थ कैसे निर्विषय रूपी मोक्षपद को प्राप्त करा सक्ता है; इस स्थल

पर श्रीभगवान् वेदव्यासजी ने एक हास्योद्दीपक इतिहास वर्णन किया है कि, एक नपुंसक की स्त्री ने अपने पति से पूछा "हे आर्य्यपुत्र मेरी भगिनी के तो संतान हैं परन्तु आप मुझ से क्यों नहीं संतान उत्पन्न करते,,? तब उस नपुंसक पति ने उत्तर दिया कि "मैं मर कर पुनः तुम से सन्तान उत्पन्न करूंगा"; अब विचारने योग्य है कि जब वह पति जीते जी संतान उत्पन्न न कर सका तो मर कर कैसे करेगा; ऐसे ही जब उपस्थित अवस्था में बुद्धि रूपी अन्तःकरण तो कुछ कर ही नहीं सकता तो पुनः मर कर अर्थात् नाश होकर क्या कल्याण करेगा। विपर्ययज्ञान रूपी अविद्या ही विवेकख्याति रूप संयोग का कारण है; उसके द्वारा पुरुष की मुक्ति नहीं हो सकती; परन्तु उसके अभाव से ही पुरुष को कैवल्य-पद की प्राप्ति होती है; इस से यही तात्पर्य्य है कि जहांतक अविद्या का राज्य है वह सब अविद्या ही है, अविद्या कुछ मुक्ति का कारण नहीं हो सक्ती; परन्तु अविद्या के अभाव से ही पुरुष अपने रूप को प्राप्त करके मुक्त होजाता है ।

तदभावात्संयोगाभावोहानंतद्दृशेःकैवल्यम् २५

उस भाव के अभाव से संयोग का अभाव होता है इस अवस्था को हान कहते हैं तद्पश्चात् कैवल्य की प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥

जब उसका अभाव होजाता है; अर्थात् जैसा संयोग रूपी भाव का वर्णन पूर्व्व सूत्रों में किया गया है, उसी अविद्या रूपी भाव का अभाव जब होजाता है; तब अन्तःकरण और आत्मा के संयोग का भी अभाव होजाता है; अर्थात् शुद्ध-मुक्त-आत्मा ने

जो अपनेआपको अन्तःकरण मान रक्खा था वह भ्रम दूर हो जाता है; तो बन्धन की निवृत्ति होकर पुरुष मुक्त होजाता है; और वही मुक्तावस्था कैवल्यपद है । पूर्व्व सूत्रों में कथित ऋतम्भरा नामक पूर्णज्ञान के उदय होने से अविद्या नामक मिथ्याज्ञान का नाश होजाता है; तब अविद्या का अभाव होने से द्रष्टा और दृश्य के संयोग का भी अभाव होजाता है, इसही अवस्था का नाम हान है; इस हान-अवस्था की प्राप्ति के अनन्तर निर्विकल्प-समाधि रूपी कैवल्य की प्राप्ति होती है । तात्पर्य्य यह है कि इन अवस्थाओं का ठीक ठीक वर्णन शब्द द्वारा होना कठिन है; निरवयव रूप रहित वस्तु का विभाग करना असम्भव है; जब विवेकख्याति उत्पन्न होती है तब अविवेक से उत्पन्न हुआ पूर्व्वोक्त संयोग आपही नष्ट होजाता है, और यही हान कहाता है; जो संयोग का हान है, सो ही पुरुष का कैवल्य है ।

विवेकख्यातिरविप्लवाहानोपायः ॥२६॥

जिस ज्ञान का कभी नाश न हो वह ज्ञान का उपाय है ॥ २६ ॥

बुद्धि सब जीवों में ही है परन्तु उस बुद्धि में रज और तमगुण का न्यूनाधिक सम्बन्ध रहने से बुद्धि की ज्ञान-शक्ति में तारतम्य आजाता है; अर्थात् जिस जीव में जितना सत्वगुण अधिक होता है उस की बुद्धि उतनी ही तीव्र होती है; परन्तु कितना ही हो जीव-बुद्धि में कुछ न कुछ रज और तमगुण रहता ही है, इस कारण जीव-बुद्धि असम्पूर्ण है; और जीव-बुद्धि का परिवर्त्तन भी अवश्य सम्भव है । जब बुद्धि रज और तमगुण से

उपराम होकर, कर्तृत्व और भोक्तृत्व अभिमान से रहित होकर, शुद्ध सत्व-गुण में पहुंचकर और अन्तःमुखी होकर निश्चल पूर्ण-ज्ञान-रूपी विवेक अवस्था की प्राप्ति कर लेती है; तब वह स्थिर-बुद्धि ही हान-अवस्था प्राप्त का उपाय है। इस सूत्र का यही तात्पर्य है कि पूर्णज्ञान-रूपी बुद्धि जो स्थिर हो अर्थात् जिस में परिवर्त्तन की सम्भावना ही नहीं रहे, उसी विवेकख्याति नामक बुद्धि के उदय होने से मिथ्याज्ञान रूप अविद्या का बीज तक नाश होजाता है; और तब ही हान-अवस्था की प्राप्ति के द्वारा जीव मोक्ष होसकता है।

तस्यसप्तधाप्रान्तभूमिःप्रज्ञा ॥ २७ ॥

पूर्वोक्त हान-उपाय की सात प्रकार की ज्ञान-भूमि होती है ॥ २७ ॥

पूर्व्व सूत्र में जो ज्ञान की अवस्था वर्णन की गई है उस अवस्था को शास्त्रकारों ने सात प्रकार से विभक्त किया है, और पुनः इन सात अवस्थाओं के भी दो भेद किये गये हैं, जिन में से प्रथम वर्ग में चार भूमि और द्वितीयवर्ग में तीन भूमि समझी गई हैं। प्रथम अवस्था वह है कि जिस में साधक को बोध हो कि पूर्व्व-काल में मुझ को बहुत कुछ जानने की अवस्था पूर्ण होगई। द्वितीय अवस्था वह है कि जब साधक को यह अनुभव हो कि पूर्व्व-काल में मेरे त्याग देने योग्य 'काम, आदि अनेक हेय विषय थे, परन्तु अब मुझ में कोई भी हेय-विषय शेष नहीं है; अर्थात् मैं ने उन सबों को जय कर लिया है। तृतीय अवस्था वह है कि जिस में साधक को यहअनुभव होताहै कि पूर्व्व काल में मुझ को बहुत कुछ प्राप्त करने योग विषय

थे, परन्तु अब मुझे किसी भी वस्तु का प्राप्त करना अवशिष्ट नहीं रहा; अर्थात् अब सब कुछ प्राप्त होगया है। चतुर्थ अवस्था वह है कि जिस में साधक को ऐसा अनुभव होता है कि मैंने सम्प्रज्ञात समाधि में विवेक नामक ख्याति की भावना प्राप्त करली है, अब मुझे कोई भी भावनीय पदार्थ अवशिष्ट नहीं है; अर्थात् जो कुछ करनाथा वह मैं पूर्ण कर चुका। यह चारों अवस्था प्रथम-वर्ग की हैं, और इनके नाम कार्य्य विमुक्ति-अवस्था हैं। पञ्चम अवस्था वह कहाती है कि जिस में साधक को ऐसा अनुभव होता है कि, पूर्वकाल में मैं अनेक बुद्धि (वासना) युक्त होने के कारण नाना दुःखों में फँसाथा, परन्तु अब मुझ में के सारे दुःख क्षय को प्राप्त होगये; अर्थात् मेरा अन्तःकरण अब शान्तियुक्त होगया है। षष्ठ अवस्था वह कहाती है कि जिस में साधक को ऐसा अनुभव होता है कि, मैं अब कोई दूसरी भूमि में आगया हूं, मेरे अन्तःकरण के सब गुण दग्ध बीज के समान होगये हैं; अर्थात् दग्ध बीज से जैसे अङ्कुरोत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार मेरे अन्तःकरण में अब कोई वृत्ति उठ ही नहीं सकती। और सप्तम अवस्था वह कहाती है जिस में साधक को और कोई अनुभव अवशेष नहीं रहता; अन्तःकरण का लय होने से तद्भाव में स्थिर होकर आत्मस्वरूप की प्राप्ति होजाती है, इसी सप्तम अवस्था का नाम कैवल्यपद है। यह शेष की तीन अवस्थायें द्वितीयवर्ग कहाती हैं, और इनका नाम चित्त विमुक्ति-अवस्था है। साधक जितना उन्नत होता जाता है उतना ही इन सप्त भूमियों में अग्रसर होता हुआ सब के शेष में कैवल्य पद को प्राप्त कर लेता है।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्ति राविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योगके आठ अंगों के साधन से क्रमशः मलिनता नाश होकर ज्ञान का प्रकाश होता हुआ विवेकख्याति की वृद्धि होती है ॥२८॥

महर्षि सूत्रकार पूर्व सूत्र में विवेकख्याति की अवस्थाओं का भलीभांति वर्णन करके अब इस सूत्र द्वारा उसकी उत्पत्ति का उपाय वर्णन कर रहे हैं। जिस प्रकार गांठ का लगाना कर्म्म है, उसी प्रकार गांठ का खोलना भी कर्म्म है। इसी प्रकार जीव के साधारण कर्म्म भी कर्म्म हैं, और अष्टाङ्गयोग-साधन रूप कर्म्म भी कर्म्म हैं; जैसे गांठ लगाने रूप कर्म्म से पदार्थ बँध जाते हैं, उसी प्रकार जीव के साधारण कर्म्म से भी जीव सदा बँधे रहते हैं; परन्तु जिस प्रकार गांठ-खोलने रूप कर्म्म से पदार्थ खुल जाता है, उसी प्रकार सुकौशल-पूर्ण अष्टाङ्ग-योग के साधन से जीव क्रमशः पूर्णज्ञान को प्राप्त करके मुक्त होजाता है। जैसे जैसे यम आदि का अनुष्ठान करते करते साधक आगे के साधनों का अधिकारी होजाता है वैसे वैसे ही उसके अन्तःकरण की मलिनता घुलती चलीजाती है; और अन्त में वह पूर्णज्ञान रूप विवेकख्याति की पूर्ण-अवस्था को लाभ करके मुक्त होजाता है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि योग के यह आठ अङ्ग हैं ॥ २९ ॥

योगसाधन कि जिस से कैवल्यपद की प्राप्ति होती है उस के आठ विभाग है, यही आठ विभाग आठ अंग कहाते हैं, अर्थात जैसे२ साधक क्रमशः उन्नत होता जाता है वैसे ही अष्टांग साधनों में से उन्नत अंगों का अधिकारी होता जाता है। अधिकार के अनुसार ही इन अंगों का उपदेश श्रीगुरु महाराज से साधक को मिलता रहता है। और इसी विचार से इन आठ अंगों की दो भूमिया हैं; यथा—एक वहिरंग भूमि, और दूसरी अन्तरंग भूमि; प्रथम तीन अर्थात् यम, नियम और आसन यह वहिरंग भूमि में समझे जाते है, और शेष पाच अर्थात प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह अन्तरंग भूमि में समझे जाते है। वहिरंग भूमि के साधन से केवल अन्त करण की निर्मलता वढ़कर अन्तःकरण शुद्ध होजाता है और तव योग साधन में रुचि वढ़जाती है, यह वहिरंग साधन मुक्ति प्राप्त करने के साक्षात् कारण नहीं हैं। परन्तु अन्तरंग साधन द्वारा अन्तःकरण एकाग्रता को प्राप्त होजाता है, एकाग्रता ही मुक्ति प्राप्त करने का साक्षात् कारण है; इसकारण अन्तरग भूमि के साधन समूह भी मुक्ति पद लाभ करने के साक्षात् कारण कहाते हैं। इन आठ योग अंगों का विस्तारित विवरण अगले सूत्रों में किया जावेगा।

अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्य्याऽपरिग्रहायमाः ३०

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह यह यम कहाते है ॥ ३० ॥

किसी प्रकार से भी किसी काल में किसी प्राणी को द्वेष-बुद्धि करके किसी प्रकार की हानि न पहुंचाने को अहिंसा कहते हैं; अर्थात् जैसे अपने को क्लेश होता है वैसे ही प्राणी-मात्र को भी होता है ऐसा विचार करके सब प्रकार के प्राणियों पर समदृष्टि होकर उनको किसी प्रकार का भी क्लेश न पहुंचाने को अहिंसा कहते हैं; यह अहिंसा साधन यम के और साधनों से सर्व्व-प्रधान है। वाणी और मन को ठीक रखकर जैसा विषय हो वैसा ही प्रकाश करने को सत्य कहते हैं; श्रीभगवान् वेद-व्यासजी ने सत्य का अर्थ ऐसा भी किया है कि जो वाक्य छल कपट से भरा नहो, जो वाक्य भ्रमशून्य हो, जो वाक्य निरर्थक नहो, जो वाक्य सब प्राणियों का उपकारकारी हो, और जिस वाक्य से प्राणियों को किसी प्रकार का क्लेश न पहुंचे, वही सत्य है। निषिद्ध रीति से दूसरे के द्रव्य को लेना अर्थात् विना दिये और विना कहे दूसरे की वस्तु को ग्रहण करने का नाम चोरी है, इस चौर्य-वृत्ति का अभाव, अर्थात् अन्तःकरण के इस वृत्ति से शून्य होने को अस्तेय कहते हैं। लिङ्ग-इन्द्रिय को वश में रखना, अर्थात् मन दमन द्वारा वीर्य की रक्षा करने को ब्रह्मचर्य्य कहते हैं। और धन का संग्रह करने में, धन की रक्षा करने में, और धन के नाश में सर्व्वत्र ही हिंसारूप दोष को देखकर विषय के त्याग को अपरिग्रह कहते हैं। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह रूप यम के साधन से साधक को योग का प्रथम अधिकार प्राप्त होता है।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाःसार्वभौमा महाव्रतम्॥३१॥

जाति, देश, काल और समय मे भिन्न इन यमों का सर्वथा पालन करना महाव्रत कहाता है ॥ ३१ ॥

जाति, देश, काल और समय का कुछ भी विचार न करके, समदर्शी होकर सब समय यम के पालन करने से परम कल्याण की प्राप्ति होती है; अर्थात् जैसे मनुष्यगण मनुष्य-जाति में ब्राह्मण को और पशु जाति में गो आदि जाति को हिंसा करना अनुचित समझते हैं, जैसे देश के विचार से काशी आदि तीर्थों में हिंसा करना अनुचित समझते हैं, जैसे काल के विचार से मनुष्यगण पर्व्व के दिन में हिंसा करने से बचते हैं, और समय के विचार से जैसे सन्ध्या आदि समय में मनुष्यगण हिंसा नहीं करते, वैसे पक्षपात को त्याग करके, सार्वभौम लक्ष जमाय के मन से ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा कीजाय कि,कभी किसी काल में किसी प्रयोजन से भी हिंसा करने में प्रवृत्ति न हो, इस प्रकार जाति, देश, काल और समय के विचार से रहित होकर यदि साधक हिंसा से बचेगा, तबही वह साधक अहिंसा-साधन का महाव्रतधारी कहावेगा। और इसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह आदि के साधन में भी जाति, देश, काल और समय के विचार को त्यागकर दृढ़-साधन से महाव्रत कहावेगा। इस सूत्र से यही तात्पर्य्य है कि यदिच सांसारिक जीवों के लिये जाति, देश, काल और समय के विचार से ही शनैः शनैः यम का

अभ्यास कराया जाता है तत्रच वह नियम गौण है; दृढ़ व्रत हो-कर सब काल में सार्व-भौम-दृष्टि रखकर यम के साधन से ही यथार्थ कल्याण की प्राप्ति होती है; और ऐसा ही करणीय है।

शौचसन्तोषतपस्स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥ ३२॥

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान यह नियम कहाते हैं॥ ३२॥

शौच शुद्ध करने को कहते हैं; अर्थात् स्नान, मार्जन आदि क्रियाओं द्वारा शरीर की शुद्धि, और मैत्री, सरलता आदि सत्-वृत्तियों से मन के मैल को धोने का नाम अन्तर्शौच है; इस प्र-कार वाह्य और अन्तःशौच से शौच साधन होता है। सब अवस्थाओं में अपनेआपको सुखी समझने को संतोष कहते हैं; अर्थात् विचार द्वारा जब साधक को यह अनुभव होजाता है, और यह भी विचार में आजाता है कि सुख और दुःख दोनों ही क्षणभंगुर हैं, तब वह ज्ञानवान् साधक सब अवस्थाओं में ही अविचलित रह सकता है, और यह अविचलित-अवस्था ही संतोष कहाती है। शीत की तीव्रता और ग्रीष्म की प्रबलता से जो क्लेश होता है, भूख और प्यास के उदय से जो विकलता होती है, इत्यादि शरीर के विकारों को सह लेने का नाम तप है; शास्त्रों में जो कृच्छ्रचान्द्रायण, शान्तपन, अनशन आदि व्रत लिखे हैं वे सब तप के ही साधन हैं। मोक्षधर्म-उपदेशक शास्त्रों के पठन और मनन को स्वाध्याय कहते हैं। जगत्कर्ता परमेश्वर

में अचल-भक्तियुक्त होकर अपने किये हुए सत्कर्म्मों का फल उनके चरणों में अर्पण करदेने को ईश्वर-प्रणिधान कहते हैं; ईश्वर-प्रणिधान का विस्तारित विवरण पूर्व्व ही आचुका है, इस कारण पुनः इस स्थल पर पुनरुक्ति नहीं कीगई । इस प्रकार शौच, संतोप, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान रूपी नियम के साथ से साधक शुद्धचित्त होता हुआ योगमार्ग के उन्नत अधिकारों को प्राप्त होता जाता है ।

वितर्कबाधनेप्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

इन नियमों के अर्थ वितर्क में प्रातिकूल भावना करे ॥ ३३ ॥

ऐसा विचार न किया जाय कि यम और नियम आदि में हिंसा आदि का पूर्णरूपेण नाश होना सम्भव है, अर्थात् जिन२ धर्म्म-प्रतिकूल-वृत्तियों के निरोध यम और नियम के साधन में लिखे हैं उनकी विरुद्ध-वृत्तियों के ही प्राप्त करने को यम और नियम कहते हैं; और उन प्रतिकूल-वृत्तियों के रोकने से ही इनका साधन होता है । अर्थात् जब जब हिंसा आदि वृत्तियां अन्त:करण में उठें; और अन्तःकरण ऐसा चाहने लगे कि, "अमुक को मारडालूं, अपने इन्द्रिय सुख के लिये अमुक असत्य वोलूं, अमुक की वस्तु चुरालूं,, इत्यादि; तब तब ही साधन उपदेश के अनुसार साधक को ऐसी विरुद्ध वृत्तियों का स्मरण करना उचित है जिस से उसके अन्त:करण की वह पापकारी यम नियम की प्रतिकूल-वृत्तियां दब जावें, अर्थात् उस समय यदि वह साधक ऐसा सोचे कि " यह संसार क्षणभंगुर है, मैं व्यर्थ झूंठे सुख के लिये पाप में लिप्त होता हूं, अब इस आग से बचने के अर्थ श्री-

गुरु-उपादिष्ट योग मार्ग की सहायता लेना उचित है" इस प्रकार भावना करने से ही वह पापकारी-वृत्तियां नाश हो जायँगी; और इसी रीति पर साधन करने से साधक दिन पर दिन यम और नियम के साधन में अग्रसर होता जायगा।

वितर्काहिंसादयःकृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वकामृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफलाइतिप्रतिभावनम् ॥ ३४ ॥

वितर्क हिंसा आदि के भेद हैं, वे (हिंसा आदि) स्वयं किये जायें वा दूसरे से कराये जायें वा करने में सम्मति दी जाय, लोभ से, क्रोध से, अथवा मोह से मृदु मध्य और अधिमात्र हो, जिन का फल दुःख और अज्ञान है यह योग के विरोधी हैं ॥ ३४ ॥

BHARATIYA VI... S N 27641 LIBRARY

पूर्व सूत्रों में महर्षि सूत्रकार यम और नियम रूपी योग के प्रथम दो अङ्गों का वर्णन कर पुनः उनके साधन-उपाय का विस्तारित विवरण कर, अब इस सूत्र द्वारा उनकी विरोधी-वृत्तियों के विस्तारित भेद का वर्णन कर रहे हैं। प्रधानतः हिंसा ही तीन प्रकार की होती है, यथा—कृत, कारित और अनुमोदित, जो हिंसा स्वयं कीजाय वह कृत, जो हिंसा दूसरे से कराई जाय वह कारित, और जिस हिंसा के करने में सम्मति

दी जाय वह हिंसा अनुमोदित कहाती है। पुनः इन तीन प्रकार की हिंसाओं में भी प्रत्येक के लोभ, क्रोध और मोह के विचार से तीन २ भेद होते हैं; अर्थात् जब मांस आदि के लोभ से हिंसा कीजाय वह लोभज, जो हिंसा बदला लेने के अर्थ क्रोध से कीजाय वह क्रोधज, और जब ऐसा विचार किया जाय कि "अमुक को मार डालना मेरा धर्म्म है,, तो मोह से की हुई उस हिंसा का नाम मोहज है। पुनः इन तीनों में से प्रत्येक के मृदु, मध्य और तीव्र भेद से तीन तीन भेद हैं; इस प्रकार से पूर्व कथन के अनुसार हिंसा के इक्कीस भेद हुए। प्रकृति-भेद से जब प्राणियों के असंख्य भेद हैं, तो उसी प्रकार गुण के तारतम्य से इस हिंसा रूपी पाप के इक्कीस भेदों के भी अनन्त भेद हो जावेंगे। और इसी रीति के अनुसार असत्य आदि पापवृत्तियों के भी अनन्त भेद होते हैं। किसी को मारते समय पहले मनुष्य उसके बल वीर्य्य की निन्दा करता है, पुनः शस्त्र द्वारा उस को क्लेश देता है, और तत्पश्चात् उसे मारडालता है; इसी क्रम के अनुसार उस जीव को अपने किये हुए इस पापकर्म्म का भोग भी मिलता है, अर्थात् परजन्म में वीर्य्य की निन्दा से वह हीन-वीर्य्य होता है, दुःख देने से वह भी दुःख पाता है, और हनन करने से या तो वह उस से मारा जाता है अथवा अल्पायु होता है; इस प्रकार कर्म्म की गहन गति से उसको यथावत् दुःख रूपी फल की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार यदि मनुष्य शास्त्रोक्त पुण्य के विचार से भी पुण्य समझ कर हिंसा करेंगे तो परलोक में उनको पुण्य से सुख की तो प्राप्ति होगी, परन्तु हिंसा रूपी कार्य्य से वह अवश्य अल्पायु होंगे; मीमांसा-

दर्शन में इस प्रकार कर्म्मों की अद्भुत गति वर्णन की गई है। इस सूत्र का यही तात्पर्य्य है कि, पाप-वृत्ति रूपी वितर्कों के अनन्त भेद हैं, और उन से यथावत् दुःख की ही प्राप्ति अन्त में होती है; इस कारण इन योग-विघ्नकारी-वृत्तियों को यम नियम रूपी प्रतिपक्ष-भावना से नष्ट कर देना ही उचित है।

अहिंसाप्रतिष्ठायांतत्सन्निधौवैरत्यागः ।३५।

जब अहिंसा की प्रतिष्ठा होजाती है तब उसके समीप सब वैर-भाव त्याग कर देते हैं ॥ ३५ ॥

अब इस सूत्र में अहिंसा के पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित होजाने पर जो फल की प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। जब योगी हिंसा आदि कुवृत्तियों को पूर्णरूपेण जय करके अपने अन्तःकरण में अहिंसा-वृत्ति की प्रतिष्ठा कर लेता है, तब उस के सन्मुख आये हुए जीवों का वैर-भाव भी दूर होजाता है; अर्थात् उस समय के लिये उस महापुरुष के संग से वे भी अहिंसा-वृत्ति का प्राप्त करते हैं। इसमें यदि ऐसा कोई सन्देह करे कि "व्याघ्र आदि जीवों का स्वभाव ही हिंसा करना है तो प्रकृति अपने स्वभाव को कैसे छोड़ेगी" ? इस के उत्तर में यह कहा जासक्ता है कि व्याघ्र आदि का स्वभाव हिंसा करना नहीं है, यदि ऐसा होता तो वे अपने पुत्र कलत्र के साथ भी हिंसा करते, परन्तु उन में तमोगुण का प्रभाव अधिक होने के कारण थोड़े से ही कारण से तमोगुण की उत्पत्ति होजाती है और यही हिंसा अधिक होने का कारण है; किन्तु जहां उस कारण का अभाव रहेगा तहां

हिंसा वृत्ति उठ ही नहीं सकेगी; अर्थात् जिन साधक महात्माओं में हिंसा का बीज रूप तक नाश होगया है उनके निकट पूर्ण शांति के प्रभाव से वह हिंसक पशु भी शान्त ही बना रहेगा ।

सत्यप्रतिष्ठायांक्रियाफलाश्रयम् ॥ ३६ ॥

सत्य की प्रतिष्ठा से क्रिया-फल का आश्रय होजाता है ॥३६॥

अब इस सूत्र द्वारा सत्य की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होजाने से जो फल की प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। जब योगी सत्यता-अभ्यास में दृढ़तायुक्त होजाता है अर्थात जब उस के मुख से असत्य वाक्य निकलताही नहीं, तब उसकी वाक्य-सिद्धि हो जाती है अर्थात् तब वे जो कुछ मुंह से वचन निकालते हैं उसका फल अवश्य होता है, जैसे यदि वे किसी मूर्ख से पंडित कहे तो वह मूर्ख पंडित हो जाता है, यदि दरिद्र को धनवान् कहें तो दरिद्र धनवान् होजाता है, यदि वन्ध्या को पुत्रवती कहें तो वन्ध्या पुत्रवती होजाती है। इस में यदि कोई सन्देह करे कि असम्भव कैसे सम्भव हो सकता है ? तो इस के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि योगी का अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से वह जो कुछ देखता है, और पुनः उसका स्वभाव सत्यमय हो जाने से वह जो कुछ करता है वह सत्य ही करता है; इस कारण जैसा होने वाला है उस को ही उस का अन्त करण अनुभव कर लेता है और वैसे ही रेख पर मेख मार कर उस का वचन भी मुख से निकलता है ।

अस्तेयप्रतिष्ठायांसर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७॥

अस्तेय की प्रतिष्ठा से सब रत्नों की प्राप्ति होजाती है ॥ ३७ ॥

अब अस्तेय की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होजाने से जो फल की प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। जब साधक ऐसा अभ्यास कर लेता है कि लोभ के जय करलेने से उसमें चोरी की वृत्ति उठती ही नहीं ? तब समस्त संसार के प्राणी उसका विश्वास करने लगते हैं और विना अभिलाषा के ही अच्छे अच्छे पदार्थ उसके निकट आजाते हैं। जैसे अहिंसा-वृत्ति के उदय होने से हिंसक व्याघ्र भी उसके सन्मुख अहिंसा-वृत्ति को धारण करलेता है, उसी प्रकार आस्तेय-वृत्ति के उदय होने से अविश्वासी संसार भी उसका विश्वास करने लगता है। जब तक मनुष्य की इच्छा रहती है तब ही तक उसको अभाव भी अनुभव होता है परन्तु लोभ रूपी इच्छा के दूर होने से साधक के सब अभाव दूर होजाते हैं, और तब इस संसार का कोई पदार्थ भी उनके अर्थ अप्राप्त नहीं रहता।

ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायांवीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मचर्य्य की स्थिरता से वीर्य्य का लाभ होता है ॥ ३८॥

अब ब्रह्मचर्य्य की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होने से जो फल की प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। जब ब्रह्मचर्य्य-साधन पूर्णरूपेण अभ्यासित होजाता है तो साधक को शारीरिक और मानसिक वीर्य्य की प्राप्ति होती है। शरीर में रेत ही प्रधान धातु

है, इस कारण इसका नाम वीर्य्य है; उस रेत की पूर्ण रक्षा करने से शरीर पूर्णता को प्राप्त होता है; अर्थात् ब्रह्मचर्य्य के साधन से शरीर ऐसा उपयोगी होजाता है कि किसी प्रकार से भी विचलित नहीं होता, जब प्रधान धातु से शरीर पूर्ण रहेगा तो उस से और धातु भी स्वतः ही पूर्णता को प्राप्त होंगे; यह पूर्णता ही शारीरिक-वीर्य्य कहाता है। शरीर और मन का एकही सम्बन्ध है, अर्थात् शरीर वीर्य्यवान् होने से मन भी वीर्य्यवान् होजाता है; दूसरे मन, वायु और वीर्य्य से बहुत निकट-सम्बन्ध है, क्योंकि सृष्टि-क्रिया में देखा जाता है कि उस क्रिया के करने में मन कर्त्ता और वीर्य्य कारण है; इसी कारण ब्रह्मचर्य्य-व्रत के द्वारा मन भी इतना बलशाली होजाता है कि वह जो चाहे सो हीकर सक्ता है।

अपरिग्रहस्थैर्येजन्मकथन्तासम्बोधः॥ ३९ ॥

अपरिग्रह के स्थिर होने से जन्म क्यों हुआ इसका बोध होता है ॥३९॥

अब अपरिग्रह की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होने से जो फल की प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। जब साधक का हृदय एकवार ही लोभ-शून्य होजाय और किसी प्रकार के भी विषय-प्राप्ति की इच्छा उसके अन्तःकरण में न रहे तब उस पूर्ण-वैराग्ययुक्त अन्तःकरण में पूर्ण शान्ति विराजने लगती है; और तबही अपरिग्रह की पूर्णावस्था कहाती है। अपरिग्रह की इस पूर्णावस्था में साधक को पूर्व्व-जन्म का ज्ञान होता है; अर्थात् इस पद को प्राप्ति होकर साधक जान सक्ता है कि मैं पूर्व्व-जन्म में कौन था, पूर्व्व-जन्म में मैंने कैसे कर्म्म किये थे; इत्यादि। तीव्र-वैराग्य के उदय होने से जब अन्तःकरण विषय-

वासना से रहित होकर शान्त होजाता है, तब उसे फँसाने-वाले और कोई पदार्थ नहीं रहते; इस प्रकार अन्तःकरण के बाहर की ओर से मुख फेरलेने से उस में यथार्थ-ज्ञान की वृद्धि होती है और इसी शुद्ध-ज्ञान की सहायता से वह बहुत विषय जान सकता है। चित्त में जीव के सब किये हुए कर्म्मों का संस्कार रहता है, परन्तु नाना वृत्तियों से चित्त के चंचल रहने के कारण वह संस्कार दिखाई नहीं पड़ते, जब अपरिग्रह की पूर्णावस्था प्राप्त होने से चित्त ठहर जाता है तो आपहीआप उन संस्कारों से स्मृति का उदय होकर पिछले सम्पूर्ण कर्म्म जीव को स्मरण हो आते हैं।

शौचात्स्वांगजुगुप्सापरैरऽसंसर्गः॥४०॥

शौच से अपने अंगो की निन्दा और दूसरों से असमर्ग की प्राप्ति होती है॥ ४० ॥

अब शौच की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होने से जो फल की प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। शौच-अभ्यास करते करते जब साधक चरम-सीमा पर पहुंचता है तब उसे ऐसा अनुभव होता है कि यह शरीर परम अपवित्र है, इस का संग ही अपवित्रता का कारण है। देहाध्यास अर्थात् देह को अपना करके जानना ही जीव के बन्धन का कारण है; जब शौच के साधन से इस पांचभौतिक शरीर में तीव्र द्वेष बुद्धि होजाती है अर्थात् इस को परम अपवित्र समझकर जब जीव की वृत्ति इस से हट जाती है तब ही जीव में मोक्ष-साधन की इच्छा

प्रबल होसकती है । यह तो प्रमाणित ही है कि जब अपने शरीर में ही द्वेष-बुद्धि होगी तो और शरीरों से भी उस की प्रीति जाती रहेगी । इस प्रकार शौच साधन की पूर्णावस्था को प्राप्त होकर साधक देह की प्रीति का पूर्णरूपेण त्याग करसकता है ।

किञ्चसत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानिच ॥ ४१ ॥

सत्वशुद्धि, मन की शुद्धता, एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है ॥ ४१ ॥

जब अन्त करण की मलिनता दूर होने से अन्त करण में केवल सत्वगुण का विशेष प्रकाश होने लगता है तो ज्ञानाधिक्य के कारण वह अवस्था सत्व शुद्धि कहाती है । मलरूपी खेद के दूर होजाने से मन में जो एक प्रकार की सुख की उत्पत्ति होती है उसी का नाम सौमनस्य अर्थात् मन की शुद्धता है । मन शुद्ध होने से वह आप ही एकाग्रता को प्राप्त होता है; और इसी अवस्था का नाम एकाग्रता है । विषयों में न लगने से इन्द्रियगणों का जय होता है, अर्थात् शौच से जब शरीर में ही प्रीति नहीं रहती तो इन्द्रियों के विषयों में क्या रहेगी; इसही विषयों से मुख फेरने का नाम इन्द्रिय जय है । इस प्रकार जब अन्तःकरण की वृत्तियां ठहरने लगती हैं तो आपहीआप अन्तःकरण में आत्मदर्शन की योग्यता आजाती है । इस सूत्र से यही तात्पर्य है कि शौच का साधन पूर्ण होने पर केवल पूर्व सूत्रोक्त एकफल

की ही प्राप्ति नहीं होती परन्तु सत्वशुद्धि, शुद्धमनत्व, एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता भी लाभ होती है।

संतोषादनुत्तमस्सुखलाभः ॥ ४२ ॥

संतोष से श्रेष्ठ सुख का लाभ होता है ॥ ४२ ॥

अब इस सूत्र द्वारा संतोष की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होजाने से जो फल की प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। श्रीभगवान् वेदव्यासजी ने लिखा है कि नाना इच्छामय काम के पूर्ण होने से जिन नाना दिव्य-सुखों की उत्पत्ति हुआ करती है वे सब मिलकर संतोष से उत्पन्न हुए सूर्य्य रूपी सुख की एक किरण के समान भी नहीं हैं। तात्पर्य्य यह है कि वासना ही नाना दुःखों का कारण है, जब संतोष के उदय होने से इच्छा का एकबार ही नाश हो जायगा तो दुःख रहेगा ही नहीं; तब सुख ही सुख शेष रह जायगा। इसी कारण संतोष ही परम सुख का रूप है

कायेन्द्रियसिद्धिरऽशुचिक्षयात्तपसः॥ ४३ ॥

तप द्वारा अशुद्धक्षय होजाने से काय-सिद्धि और इन्द्रिय-सिद्धि होती है ॥ ४३ ॥

अब इस सूत्र द्वारा तप की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होजाने से जो फल की प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। विरुद्ध-प्रकृति प्राप्त होने से काया क्षीण, रोगग्रस्त और नष्ट होसकती है, परन्तु तप के साधन से जब विरुद्ध-प्रकृति सहने की शक्ति साधक में होजाती है तो पुनः उस शरीर में विरुद्ध-प्रकृति

से जो क्षीणता, रोग और नाश होने का भय था वह जाता रहता है; इस प्रकार साधक तप के साधन से शरीर की दृढ़ता रूप सिद्धि को प्राप्त करलेता है; इसी का नाम कायसिद्धि है । इस प्रकार अन्तःकरण की दृढ़ता और शुद्धता से अन्तःकरण जब एकाग्र होने लगता है तब स्वतः ही उस योगी की इन्द्रिय-शक्ति पूर्णता को प्राप्त होजाती है; अर्थात् तब योगी दूर-दर्शन दूर-श्रवण आदि इन्द्रिय-शक्ति की पूर्णता को प्राप्त होजाता है; यह ऐशी-सिद्धि का अंश रूप इन्द्रियगणों की पूर्णता ही इन्द्रिय-सिद्धि कहाती है । तप साधन की पूर्णता से इस प्रकार अद्भुत कायसिद्धि और इन्द्रिय-सिद्धि की प्राप्ति हुआ करती है ।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ ४४ ॥

स्वाध्याय से अभिलषित देवता की प्राप्ति होतीहै ॥४४॥

अब इस सूत्र द्वारा स्वाध्याय की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होजाने से जो फल की प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं । वेद अथवा वेद सम्मत मोक्ष शास्त्र का पठन और मनन करने से अथवा मंत्र-जप से स्वाध्याय होता है; ऐसे स्वाध्याय रूपी साधन की पूर्णता के प्राप्त होने से अभिलाषित देवता की प्राप्ति होती है । मोक्ष रूपी अभिलाष के प्राप्त करानेवाले जो गुरु महात्मा अथवा इष्ट देव हों वेही अभिलाषित देव हैं । वेद अथवा मोक्ष-शास्त्र पढ़ते पढ़ते जब अन्तःकरण शुद्ध होजाता है तब ही मनुष्य को साधु, महात्मा अथवा गुरुदेव के दर्शन हो सकते हैं । वेदार्थ और मोक्ष-शास्त्र का मनन करते करते जब पूर्णज्ञान की प्राप्ति से साधक समझने लगता है कि प्रकृति का यह रूप है, और पर-

मात्मा का यह रूप है; तब ही साधक-भक्त के हृदय रूप गोलोक में भक्तमनरंजन देवों के देव इष्टदेव श्रीभगवान् प्रगट होजाते हैं । और प्रणव रूपी मंत्र के जप से कैसे भगवत्-दर्शन होता है इसका वर्णन पूर्व्व ही आचुका है । इस प्रकार स्वाध्याय-साधन के सिद्ध होने से साधक गुरु और गोविन्द रूप अभिलाषित देवता की प्राप्ति कर लेता है ।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वर-प्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है ॥ ४५ ॥

अब इस सूत्र द्वारा ईश्वर-प्रणिधान की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होजाने से जो फल की प्राप्ति होती है उसका वर्णन कररहे हैं । ईश्वर-प्रणिधान से निर्विकल्प-समाधि को प्राप्त करके कैसे साधक मुक्त होसक्ता है उसका वर्णन प्रथमपाद में भलीभांति आचुका है; इस कारण अब पुनरुक्ति नहीं कीगई । जब भक्त-साधक ईश्वर-भक्ति की पूर्णता को प्राप्त करके पराभक्ति के राज्य में पहुँच कर अपने सब कर्म्म-फलों को अपने प्रियतम हृदयनाथ के प्रीत्यर्थ अर्पण करके, उनके ही प्रेम में उन्मत्त होकर भीतर बाहर, जड़ में चेतन में, सुख में दुःख में, भले में बुरे में, जहां तहां सकल स्थानों में उस एक परमात्मा को ही देखताहै, तब ही वह भक्तकुलतिलक कैवल्यपद रूपी समाधि को प्राप्त होजाता है ।

यहांतक महर्षि सूत्रकार केवल यम और नियम रूपी योग के दो अङ्गों का वर्णन कर चुके । इन पूर्व्वोक्त सूत्रों से यही समझना उचित है कि यम और नियम के प्रत्येक अङ्गों को पूर्ण-

रूपेण अभ्यास करलेने से जो फल की प्राप्ति होसक्ती है उसी का स्वतत्र स्वतंत्र रूपेण वर्णन किया गया है । और यम और नियम की साधन-अवस्था में इन पूर्व्व लिखित अवस्थाओं की पूर्णता नहीं होती; अर्थात् जैसे२ योगी साधन में अग्रसर होता जाता है वैसे ही उसको इन फलों का प्राप्ति होसक्ती है ।

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

जिस से स्थिर-सुख हो वह आसन कहाता है ॥ ४६ ॥

पूर्व्व सूत्रों में वर्णित योग के आठ अङ्गों में से प्रथम दो अङ्गों का वर्णन करके अब महर्षि सूत्रकार तीसरे अङ्ग आसन का वर्णन कर रहे हैं । जिस से आत्मा और शरीर को स्थिर-सुख पहुंचे अर्थात् जिस प्रकार शरीर को रखने से शरीर स्थाई-सुख को प्राप्त हो और उसके साथ मन भी स्थिरता को प्राप्त होकर आत्मा को भी सुख पहुंचे शरीर को उसी प्रकार से रखने की रीति को आसन कहते हैं । एक अवस्था में मनुष्य कभी स्थिर सुख को प्राप्त नहीं होसक्ता इसी कारण मनुष्य कभी चित होता है, कभी पट होता है, कभी करवट लेता है, कभी बैठता है और कभी खड़ा होता है, शरीर के चंचल होने से मनकी भी चचलता होती है: इस कारण त्रिकालदर्शी आचार्य्यों ने बहुत से बैठने के ऐसे उपाय निकाले हैं कि जिन के अभ्यास करने से शनै शनै साधक शरीर को शान्ति प्राप्त करके मनकी शान्ति को प्राप्त कर-लेता है; और तब मन भी योग-उपयुक्त होजाता है । योग-शास्त्र के नाना आचार्य्यों ने नाना प्रकार के आसनों का वर्णन किया है, और उन के स्वतन्त्र २ फल भी बताये हैं । चार प्रकार के

योग-साधनों में से हठयोग के आचार्य्यगणों ने चौरासी प्रकार के आसनों का वर्णन किया है, परन्तु लययोग के आचार्य्यगणोंने केवल चार आसनों को ही माना है। इन आसनों के सिवाय योगशास्त्रों में चौबीस प्रकार की मुद्राओं का भी वर्णन है; यह मुद्राएँ कुछ तो आसन में काम में आती हैं, कुछ प्राणायाम की सहायता करती हैं, और कुछ प्रत्याहार, धारणा और स्थूल एवं ज्योतिर्ध्यान में कार्य्यकारी हुआ करती हैं।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

प्रयत्न की शिथिलता और अत्यन्त-समापत्ति से आसन सिद्धि होती है ॥ ४७ ॥

अब इस सूत्र द्वारा आसन रूप साधन की पूर्णावस्था को प्राप्त करने से जो फल की प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। प्रयत्न की जब शिथिलता होजाती है अर्थात् आसन का अभ्यास करते करते जब वह आसन साधक का प्रकृतिगत होजाता है, अर्थात् देहाध्यास का विचार न रहने के कारण जब पूर्णरूपेण आसन में प्रयत्न की शिथिलता हो जाती है तब ही आसन साधन की सिद्धावस्था समझना उचित है। इस प्रकार शरीर के साधन से साधक जब मन की भी एकाग्रता को प्राप्त करलेता है तब उस योगी को देह का तो कुछ ज्ञान नहीं रहता, और क्रमशः शरीर और मन के स्थिर होने से पूर्व्वोक्त सम्पूर्ण योग विघ्नों की शान्ति होजाती है; इस प्रकार आसन-सिद्धि से योग साधन में साधक को बहुत ही सहायता मिलती है।

रूपेण अभ्यास करलेने से जो फल की प्राप्ति होसकती है उसीका स्वतंत्र स्वतंत्र रूपेण वर्णन किया गया है । और यम और नियम की साधन-अवस्था में इन पूर्व लिखित अवस्थाओं की पूर्णता नहीं होती; अर्थात् जैसे२ योगी साधन में अग्रसर होता जाता है वैसे ही उसको इन फलों का प्राप्ति होसकती है ।

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

जिस से स्थिर-सुख हो वह आसन कहाता है ॥ ४६ ॥

पूर्व सूत्रों में वर्णित योग के आठ अङ्गों में से प्रथम दो अङ्गों का वर्णन करके अब महर्षि सूत्रकार तीसरे अङ्ग आसन का वर्णन कर रहे हैं । जिस से आत्मा और शरीर को स्थिर-सुख पहुंचे अर्थात् जिस प्रकार शरीर को रखने से शरीर स्थाई-सुख को प्राप्त हो और उसके साथ मन भी स्थिरता को प्राप्त होकर आत्मा को भी सुख पहुंचे शरीर को उसी प्रकार से रखने की रीति को आसन कहते हैं । एक अवस्था में मनुष्य कभी स्थिर सुख को प्राप्त नहीं होसकता इसी कारण मनुष्य कभी चित होता है, कभी पट होता है, कभी करवट लेता है, कभी बैठता है और कभी खड़ा होता है, शरीर के चंचल होने से मनकी भी चचलता होती है: इस कारण त्रिकालदर्शी आचार्य्यों ने बहुत से बैठने के ऐसे उपाय निकाले हैं कि जिन के अभ्यास करने से शनैः शनैः साधक शरीर को शान्ति प्राप्त करके मनकी शान्ति को प्राप्त कर-लेता है; और तब मन भी योग-उपयुक्त होजाता है । योग-शास्त्र के नाना आचार्य्यों ने नाना प्रकार के आसनों का वर्णन किया है, और उन के स्वतन्त्र २ फल भी बताये हैं । चार प्रकार के

योग-साधनों में से हठयोग के आचार्य्यगणों ने चौरासी प्रकार के आसनों का वर्णन किया है, परन्तु लययोग के आचार्य्यगणोंने केवल चार आसनों को ही माना है। इन आसनों के सिवाय योगशास्त्रों में चौवीस प्रकार की मुद्राओं का भी वर्णन है; यह मुद्राऐं कुछ तो आसन में काम में आती हैं, कुछ प्राणायाम की सहायता करती हैं, और कुछ प्रत्याहार, धारणा और स्थूल एवं ज्योतिर्ध्यान में कार्य्यकारी हुआ करती हैं।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

प्रयत्न की शिथिलता और अत्यन्त-समापत्ति से आसन-सिद्धि होती है ॥ ४७ ॥

अब इस सूत्र द्वारा आसन रूप साधन की पूर्णावस्था को प्राप्त करने से जो फल की प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। प्रयत्न की जब शिथिलता होजाती है अर्थात् आसन का अभ्यास करते करते जब वह आसन साधक का प्रकृतिगत होजाता है, अर्थात् देहाध्यास का विचार न रहने के कारण जब पूर्णरूपेण आसन में प्रयत्न की शिथिलता हो जाती है तब ही आसन साधन की सिद्धावस्था समझना उचित है। इस प्रकार शरीर के साधन से साधक जब मन की भी एकाग्रता को प्राप्त करलेता है तब उस योगी को देह का तो कुछ ज्ञान नहीं रहता, और क्रमशः शरीर और मन के स्थिर होने से पूर्वोक्त सम्पूर्ण योग विघ्नों की शान्ति होजाती है; इस प्रकार आसनसिद्धि से योग साधन में साधक को बहुत ही सहायता मिलती है।

ततोद्वन्द्वानऽभिघातः ॥ ४८ ॥

आसन जय करने से द्वन्द्वों की बाधा मिट जाती है ॥ ४८ ॥

इस सूत्र द्वारा आसन-सिद्धि का दूसरा फल वर्णन कर रहे हैं । एक में दूसरे का जो अभाव हो उसे द्वन्द्व कहते हैं; अर्थात् शीत में ग्रीष्म का अभाव और ग्रीष्म में शीत का अभाव; इसी प्रकार सुख में दुःख का अभाव और दुःख में सुख का अभाव इत्यादि जो द्वन्द्व की बाधाएँ हैं वह भी स्वतः ही मिट जाती हैं। इस प्रकार शरीर और शरीर के साथ मन के स्थिरता को प्राप्त होजाने से साधक योग-मार्ग में अग्रसर हो सकता है मन स्थिर होने से द्वन्द्व कैसे मिट सकते हैं इस का विचार कुछ कठिन नहीं है इस कारण अधिक नहीं कहा गया ।

तस्मिन्सतिश्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

आसन के स्थिर होजाने से जो श्वास और प्रश्वास की गति का अवरोध होजाता है उसे प्राणायाम कहते हैं ॥ ४९ ॥

अब प्राणायाम का वर्णन कर रहे हैं । जो साधकगण आसन सिद्ध नहीं कर सकते, मन की चंचलता के कारण उनकी वायु भी चंचल रहती है; इस कारण वे प्राणायाम-साधन के अधिकारी नहीं हो सकते । श्वास का बाहिर निकलना और भीतर जाना रूप जो प्राण की क्रिया है, उसके अवरोध साधन को प्राणायाम कहते हैं । यह प्राणायाम क्रिया श्वास प्रश्वास के

सुकौशलपूर्ण-साधन से सिद्ध हो सकती है उसका विस्तारित विवरण अगले सूत्रों में किया जावेगा ।

सतुबाह्याऽभ्यन्तरस्तंभवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टोदीर्घसूक्ष्मः॥ ५० ॥

वह देश काल और संख्याओं से संयुक्त बाह्य और अन्तर-क्रिया रहित वृत्तियों को स्थम्भन करनेवाला दीर्घ और सूक्ष्म होता है ॥ ५० ॥

पूरक अर्थात् श्वास लेना और रेचक अर्थात् प्रश्वास फेंकना इन दोनों का नाम पूर्व सूत्र में आचुका है, अब तीसरी अवस्था का वर्णन होरहा है; अर्थात् जहां श्वास और प्रश्वास दोनों नहीं वही भीतर की वृत्ति ठहरी हुई तीसरी कुम्भक कहाती है। रेचक, पूरक और कुम्भक क्रियाओं द्वारा प्राणायाम साधन होता है, परन्तु लक्ष कुम्भक पर ही रहता है; अर्थात् प्राणवायु जितनी ठहर जायगी उतनी ही प्राणायाम की सिद्धि होगी । प्राणायाम-साधन में शरीर के विशेष विशेष स्थानों में स्थम्भन की विधि है, इस कारण प्राणायाम में देश है; रेचक, पूरक और कुम्भक में समय का भेद भी रक्खा गया है, इस कारण प्राणायाम में काल है; और संख्या द्वारा प्राणायाम-साधन अभ्यास की नियम रक्षा की जाती है, इसकारण प्राणायाम में संख्या भी है; इसप्रकार देश, काल और संख्या की सहायता से कुम्भक-अभ्यास करता हुआ साधक प्राणायाम सिद्ध करसक्ता है । पहले पहल प्राणायाम का विस्तार दीर्घ रहता है अर्थात् प्राणवायु वेग से चलता रहता है, पुनः जितना कुम्भक अभ्यास होता जाता है उतनी ही प्राणवायु

की गति मन्द होकर सूक्ष्म होती जाती है; और जितनी उसकी गति सूक्ष्म होती जाती है उतनी ही अन्तःकरण की वृत्तियां स्थम्भित होतीं जाती हैं। प्राणायाम की परावस्था का अगले सूत्र में प्रकाश किया जायगा।

वाह्याऽभ्यन्तरविषयाक्षेपीचतुर्थः॥ ५१ ॥

वाह्य और अभ्यन्तर विषयों का जिसमें त्याग हो वह चतुर्थ अवस्था है ॥ ५१ ॥

जितने प्रकार की प्राणायाम-क्रिया हुआ करती है उन सबों की गति चार भाग में विभक्त कर सक्ते हैं; अर्थात् रेचक की गति, पूरक की गति, कुम्भक की गति और चौथी इन तीनों की विचारहीन गति। योगशास्त्र के नाना ग्रन्थों में आठ प्रकार के प्राणायाम की क्रियाएँ पाई जातीं हैं; उनके नाम सहित', सूर्य्यभेदी, भ्रामरी, शीतली, भस्त्रिका, उज्जयी, मूर्च्छा और केवली हैं। इन में से सबों की गति इन तीनों सूत्र कथित उपाय पर है; अर्थात् किसी में रेचक पूरक के नियमबद्ध करने की विधि है, किसी किसी में कुम्भक ही पर अधिक विचार है, और किसी किसी साधन में कुम्भक की परावस्था में पहुंचकर रेचक, पूरक और कुम्भक से उपराम होकर शान्ति अवस्था प्राप्त करने पर लक्ष है। प्राणायाम का कुछ विषय प्रथमपाद में भी आचुका है, और इस का विस्तारित ज्ञान शब्द द्वारा नहीं होसक्ता क्योंकि क्रिया-सिद्धांत श्रीगुरुदेव के क्रिया-उपदेश से ही प्राप्त होसक्ता है। इस सूत्र का यही तात्पर्य्य है कि रेचक, पूरक और कुम्भक रूपी प्रा-

णवायु की सुकौशलपूर्ण-क्रिया करते करते जब प्राण और अ-पान की क्रिया रोध होजाती है तो उस समय साधक का अन्तः-करण ठहर कर बाह्य और अभ्यन्तर के विषयों से शून्य होजाता है। प्राणायाम की यह पूर्णावस्था और रेचक पूरक कुम्भक की यह परावस्था ही इस सूत्र कथित प्राणायाम की चतुर्थावस्था है।

ततःक्षीयतेप्रकाशाऽऽवरणम् ॥ ५२ ॥

प्राणायाम-सिद्धि से ज्ञान के आवरण रूप मल का नाश होजाता है ॥ ५२ ॥

पूर्व्व सूत्रों में महर्षि सूत्रकार प्राणायाम का विस्तारित वि-वरण करके अब उस की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होजाने से जो फल की प्राप्ति होती है सो कह रहे हैं। अन्तःकरण की चंचल-ता ही ज्ञान का आवरण करनेवाली मल रूप है; अर्थात् बुद्धि जितनी चंचल रहेगी उतना ही उस में चैतन्य रूपी ज्ञान का प्र-काश कम होगा और तम का प्रकाश बढ़जायगा, परन्तु अन्तः-करण जितना ठहर जायगा उतनी ही बुद्धि अपने रूप को प्राप्त होती जायगी; इस प्रकार यदि अन्तःकरण में वृत्ति न उठने से अन्तःकरण एकबार ही शान्त हो जायगा तो अवश्य ही बुद्धि पर का तम रूपी मल दूर होकर बुद्धि अपनी पूर्णता को प्राप्त होजायगी। पूर्व्व सूत्रों में मन, वायु और वीर्य्य की एकता का वर्णन कई स्थानों पर आचुका है, तो जब प्राणायाम-साधन से प्राण और अपान की गति रुद्ध होकर प्राणवायु ठहर जाता है तो मन और वायु का एक सम्बन्ध होने के कारण मन रूपी अन्तः-करण भी ठहर जायगा; और जब अन्तःकरण की वृत्तियां ठहर

जायँगी तो स्वतःही बुद्धि पर का मल दूर होकर बुद्धि पूर्णरूपेण प्रकाशित होने लगेगी।

धारणासुचयोग्यतामनसः ॥ ५३ ॥

तत्र धारणाओं में मन की योग्यता होती है ॥ ५३ ॥

पूर्व्व लिखित रूप से जब प्राणायाम साधन द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होजाता है तब योगी के मन की शक्ति की वृद्धि होने के कारण क्रमशः धारणा अर्थात् मन एकाग्र करने की शक्ति बढ़जाती है। इस सूत्र का यही तात्पर्य्य है कि प्राणायाम साधन से पहले योगी केवल बहिर्जगत् में ही रहता है, परन्तु प्राणायाम-साधन में योग्यता प्राप्त करने से तब वह मन राज्य रूपी अन्तर्जगत् में अधिकार स्थापन कर सक्ता है।

स्वविषयाऽसंप्रयोगेचित्तस्यस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणांप्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

इन्द्रियगण अपने अपने विषय को त्याग करके अपने अपने स्वरूप में जब स्थित होजाते हैं तब ही प्रत्याहार कहाता है ॥५४॥

अब इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार प्रत्याहार अर्थात् पंचम-योग-अंग का वर्णन कर रहे हैं। तन्मात्रा की शक्ति द्वारा जब मन इन्द्रियों से लगकर पुनः इन्द्रिय द्वारा विषय को ग्रहण करके विषयवत् होजाता है तब ही अन्तःकरण फस जाता है। परन्तु जब ऐसी क्रिया कीजाय कि इन्द्रियगण अपने निज

रूप में ही रहें, अर्थात् अपने आपे से बाहर होकर विषय में नहीं मिलें तो उस अवस्था का नाम प्रत्याहार कहावेगा। कछुआ जब कोई क्रिया करता है तब वह अपने हाथ पैरों को उदर से बाहिर निकालकर काम करता है, परन्तु जब वह काम करना नहीं चाहता तब वह अपने हाथ पैरों को सकोड़ लेता है; उसी प्रकार इन्द्रियगणों को विषय से समेट लेने का नाम प्रत्याहार है। जैसे प्राणायाम साधने की बहुत सी क्रियाऐं हैं वैसे ही प्रत्याहार-साधन की भी नाना-क्रियाऐं हैं; परन्तु वे क्रियाऐं सिद्धान्श होने के कारण लिखने में नहीं आसक्तीं, और श्रीगुरुदेव द्वारा ही उपदेश पानेके योग्य हैं। जिस प्रकार रानी मक्षिका (शहद की रानीमक्खी) के आधीन और सब मक्षिकाऐं रहती हैं, अर्थात् वह जिधर को जाती है और कीट भी उधर ही उड़ भागते हैं; उसी प्रकार अन्तः-करण अर्थात् मन जिधर को चलता है उधरही इन्द्रियें भी चल-कर विषय में लगजाती हैं। प्रत्याहार मन राज्य का साधन है और सुकौशलपूर्ण-प्रत्याहारकी क्रियाओं से मन के तन्मात्रा द्वारा इन्द्रि-यों से सम्बन्ध छूट जाने के कारण इन्द्रियगण अपने रूप को पहुंचकर स्थिर होरहती हैं, यही प्रत्याहार कहाता है।

ततःपरमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

प्रत्याहार से इन्द्रियगण अत्यन्त वश होजाती हैं ॥ ५५ ॥

अब इस सूत्र-द्वारा प्रत्याहार की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होजाने से जो अतिउत्तम फल की प्राप्ति होती है उस का वर्णन कर रहे हैं। शब्दादि विषयों में पूर्णरूपेण विरक्ति होजाने से, अर्थात् वि-षयों से एकबार ही मुख फेरलेने से इन्द्रिय जय कहाता है। परन्तु अनादिकाल से विषय के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने

के कारण विषय से इन्द्रियों का अपनेआप मुख मोड़ना असम्भव है; और इस कारण ही इन्द्रियगणों की यह स्वभावसिद्ध विषयवती शक्ति ही व्यसन कहाती है; इन्द्रियगणों का यह व्यसन तब ही दूर होसक्ता है जब इन्द्रियगणों की ऐसी पुरुषार्थहीन अवस्था कर दीजाय कि वे चलायमानही न होसकें। मन जब तन्मात्राओं की उत्तेजना के कारण इन्द्रियों से आकर मिलता है तब ही इन्द्रियगण अपने आपे से बाहिर होजाती हैं; परंतु जब प्रत्याहार-साधन से अन्तःकरण इतना वशीभूत होजाता है कि वह पूर्णरूपेण वैराग्य उत्पन्न होने के कारण विषयभोग के निमित्त से इन्द्रियगणों के साथ सम्बन्ध स्थापन करना ही नहीं चाहता; तब अपनेआपही इन्द्रियगण पुरुपार्थहीन होजाती हैं। यही प्रत्याहार-साधन की पूर्णावस्था है। इस ही अवस्था में यदि इन्द्रियगणों का सम्बन्ध भी विषयों से होजाता हो तो वे भी पुरुपार्थहीन होने के कारण आसक्त होकर पूर्वरूप से उन विषयों में नहीं लगसक्तीं; अर्थात् विषयगण पूर्व अवस्था में जैसे उनको मोहित कर लिया करते थे वैसा अब नहीं कर सक्ते। इस प्रकार प्रत्याहार-साधन की सिद्धावस्था में साधक विषय से एकबार ही मुख फेर करके पूर्णरूपेण जितेन्द्रिय होजाता है।

इति पतञ्जलि सांख्य प्रवचने योगशास्त्रे
साधनपादः। द्वितीयः समाप्तः।

इति महर्षि पतञ्जलि मुनिकृत योगसूत्र
के साधन नामक द्वितीयपाद की
निगमागमी नामकभाषा-
टीका समाप्त हुई।

॥ श्रीपरमात्मनेनमः ॥

तृतीयपादः ।

देशबंधश्चित्तस्यधारणा ॥ १ ॥

नाभि आदि स्थानों में चित्त का स्थिर करना धारणा कहलाता है ॥ १ ॥

द्वितीयपाद में अन्तःशुद्धि, क्लेशों का दूर करना, और योग-अंग के पांच अंगों का वर्णन करके अब महर्षि सूत्रकार तृतीयपाद आरम्भ करते हैं; और इस सूत्र द्वारा योग के छठे अंग धारणा का वर्णन कर रहे हैं। जब पूर्व्व साधनों से बहिर्जगत् को जीतकर साधक अन्तर्जगत् में प्रत्याहार- साधन द्वारा पहुंच जाता है तब ही वह अन्तर्जगत् में भ्रमण करने के योग्य होजाता है । अन्तर्जगत् के विशेष विशेष स्थानों में अधिकार जमाने को धारणा कहते हैं; जिस प्रकार प्राणायाम आदि के बहु प्रकार के साधन हैं उसी प्रकार धारणा अंग के भी बहु प्रकार के नियम हैं जो श्रीगुरु-देव से ही प्राप्त होसक्ते हैं । धारणा भी दो प्रकार की है यथा— स्थूल-धारणा और सूक्ष्म-धारणा; नाभि आदि शारीरिक-स्थानों में जो धारणा कीजाती है वह स्थूल अर्थात् एक प्रकार की है, और पञ्च-सूक्ष्म महाभूतों में जो धारणा कीजाती है वह सूक्ष्म अर्थात् दूसरे प्रकार की धारणा है। इसी प्रकार बाह्य और अन्तर भेद से भी इस के और दो भेद हैं; अर्थात् पूर्व्व लिखित दो प्रकार की धारणा तो अन्तर्धारणा कहाती है, और प्रथम अधिकारियों के लिये जो बाहिर से धारणा का अभ्यास किया जाता है उसे बाह्य धारणा कहते हैं। यह धारणा साधन ही समाधि में जाने का प्रथम द्वार है।

ध्यान अर्थात् ध्यान करने की शक्ति, और ध्येय अर्थात् जिसको ध्यान किया जाता है वह वस्तु, यह तीनों ही अलग अलग प्रतीत हों तब तक वह अवस्था ध्यान कहाती है; परन्तु जब यह तीनों अवस्था मिट जायँ अर्थात् इन तीनों की स्वतंत्र सत्ता न रहै तभी वह समाधि कहावेगी। इस समाधि की प्रथम अवस्था और संप्रज्ञात-योग जिसका वर्णन पूर्व आचुका है, इन दोनों अवस्थाओं में इतना ही भेद है कि, समाधि में चिन्ता विनष्ट होजाने से ध्येय का स्वरूप ठीक ठीक प्रकाशित नहीं होता; परन्तु सम्प्रज्ञात-योग-अवस्था में (जो अवस्था कि इस समाधि की प्रथम अवस्था के आगे होती है) साक्षात्कार का उदय होने से समाधि की अवस्था के अगम्य विषय भी प्रतीत होने लगते हैं। साक्षात्कार से युक्त एकाग्र-अवस्था में वह सम्प्रज्ञात-योग अर्थात् सविकल्प समाधि हुआ करती है; इस प्रकार से इस समाधि अवस्था के तीन विभाग होसके हैं यथा—प्रथम साधारण-समाधि अवस्था, दूसरी सविकल्प समाधि-अवस्था, और तीसरी निर्विकल्प समाधि-अवस्था, जिसमें कि कैवल्यपद की प्राप्ति होती है; यह तीनों अवस्था एक दूसरे के अनन्तर हुआ करती हैं। समाधि की प्रथम अवस्था जिसका कि इस सूत्र में वर्णन होरहा है तबही हुआ करती है जब ध्यान रूपी स्वतंत्र-वृत्ति ध्येय के रूप में प्रतीत होने लगती है; अर्थात् ज्ञान का स्वरूप उस समय नहीं प्रतीत होता; ध्याता में ध्येय-स्वभाव का आवेश होजाना ही समाधि की प्रथम अवस्था है; इसी भूमि को प्रथम साधक प्राप्त करके तब आगे की भूमियों में अग्रसर होता है।

तत्रमेकत्रसंयमः ॥ ४ ॥

उन तीनों का एक में संयम होना ही संयम कहाता है ॥४॥

पूर्व्व कथित धारणा, ध्यान और समाधि (साधारण समाधि) इन तीनों को एक करने से संयम कहाता है। अर्थात् जब किसी एक विषय में इन तीनों अङ्गों का एकत्र समावेश किया जाय तब वह अवस्था संयम की होजावेगी। संयम क्यों किया जाता है और उन तीनों के एकत्र अभ्यास रूप संयम-क्रिया से कैसे कैसे दिव्य फलों की प्राप्ति होती है उसका वर्णन महर्षि सूत्रकार आगे के सूत्रों में करेंगे।

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

उसके जय से बुद्धि का प्रकाश होता है ॥ ५ ॥

पूर्व्व सूत्र कथित संयम के साधन से अर्थात् जब संयम का पूर्णरूपेण अभ्यास होजाता है तब समाधि विषयक बुद्धि का प्रकाश होता है। जितना जितना संयम स्थिर होताजाता है उतनी उतनी ही पूर्णज्ञानमय-परमात्मा की कृपा से समाधि-विषयिणी-दिव्य-बुद्धि प्रकाशित होती हुई शेष में पूर्णता को प्राप्त होजाती है। समाधि-विषयिणी-बुद्धि से तात्पर्य्य यह है कि वह महान-बुद्धि जो सविकल्प और निर्विकल्प रूपी योगावस्थाओं में प्राप्त हुआ करती है; संयम सिद्धि से ही उदय होती है।

तस्यभूमिषुविनियोगः ॥ ६ ॥

उस संयोग से योग की भूमियों में स्थिरता कीजाती है ॥ ६ ॥

जैसे मनुष्य दो खंडयुक्त अट्टालिका के दूसरे खंड में तब तक नहीं पहुँच सकता जब तक कि प्रथम खंड को प्राप्त न करलेवे; अर्थात् प्रथम वह नीचे से प्रथम खंड में चढ़ेगा और तद्पश्चात् प्रथम खंड से चढ़ता हुआ दूसरे खंड में पहुँच सकता है; वैसे ही पूर्वोक्त रूप से संयम द्वारा प्रथम भूमि को जीत कर तद्परचात् योगी योग की दूसरी उत्तम भूमि में पहुँच सकेगा । इस प्रकार योगी जब भगवत्-कृपा से नीचे की भूमि से उच्चतर भूमि में पहुँच जाता है तब वह नीचे की भूमि में आता ही नहीं, क्योंकि उन विषयों को स्वयं ही जानता है। नीचे की भूमि में तो संयम से वह सब कुछ जान चुका है परन्तु ऊपर की इस भूमि में उस प्रकार संयम की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वहां उस के लिये बतानेवाला उपस्थित है; इस से यही तात्पर्य्य है कि योगावस्था में योग से ही योग की प्राप्ति होती है अर्थात् उन्नत-भूमि में भगवत्-प्रकाश-रूप समाधि-ज्ञान ही एक अवस्था से साधक को दूसरी अवस्था में पहुंचा देता है।

त्रयमन्तरंगपूर्वेभ्यः॥ ७॥

पहले वालों से यह तीनों अन्तरंग हैं॥ ७।

केवल धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों अंगों को ही क्यों इस विभूति नामक तीसरेपाद में लिया गया है? उसके विचार से महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि योग के आठों अंगों में से प्रथम पांच अंगों के साथ बहिर्जगत् का अधिक सम्बन्ध रहने के कारण उनको द्वितीयपाद में लिखा गया था; परन्तु धारणा, ध्यान, और समाधि रूप जो तीन साधन हैं ये अन्तर्जगत् से अधिक

सम्बन्ध रखते हैं, इस कारण ही उनको अन्तरंग-साधन समझ-कर सम्प्रज्ञात-साधनरूप विभूतिपाद में रक्खा गया है । इस सूत्र से यही तात्पर्य है कि योग के प्रथम पांच अंग तो वहिरंग साधन के हैं और पिछले तीन अंग अन्तरंग रूपी सम्प्रज्ञात-योग-साधन के हैं ।

तदपिवहिरंगनिर्बीजस्य ॥ ८ ॥

उस प्रकार वे निर्बीज अवस्था के वहिरंग हैं ।

जिस प्रकार प्रथम योग के पांच अंग वहिर्जगत् से सम्बन्ध रखने के कारण अन्तर्जगत् वाले तीन अंग रूपी सम्प्रज्ञात-समाधि के वहिरंग समझे जाते हैं, उसी प्रकार यह धारणा, ध्यान, समाधि रूपी सम्प्रज्ञात-योग-अवस्था निर्बीज रूपी असम्प्रज्ञात-योग अवस्था के वहिरंग हैं । सम्प्रज्ञात योग अर्थात् सविकल्प-समाधि में ध्याता, ध्येय और ध्यान का बोध रहता है और कुछ न कुछ अवलम्बन भी रहता है इस कारण उस में प्रकृति का बीज बना रहता है, परन्तु असम्प्रज्ञात योग रूपी निर्विकल्प समाधि में बीज का नाम तक नहीं रहता; इस समाधि के निर्बीज होने के कारण ही सम्प्रज्ञात रूपी सबीज-समाधि इस का वहिरंग है ।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरऽभिभवप्रादुर्भावौनिरोधक्षणचित्तान्वयोनिरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

चंचलता और एकाग्रता के संस्कारों का जो प्रकट होना और गुप्त होना और निरोध के क्षण में जो चित्त का परिणाम होता है उसे निरोध-परिणाम कहते हैं ॥ ९ ॥

जिस समय अन्तःकरण अपने स्वाभाविक गुणों से नाचता रहता है वह अज्ञान की वृत्ति व्युत्थान संस्कार कहाती है। और जब अन्तःकरण की वह स्वाभाविक चंचलता एकाग्ररूप साधन से जाती रहती है तब वह अवस्था निरुद्ध-संस्कार कहाती है। जिस समय अन्तःकरण में व्युत्थान-अवस्था होती है उस समय निरोध-अवस्था लय को प्राप्त होजाती है; और इसी प्रकार जब अन्तःकरण में निरुद्ध-संस्कार का उदय होता है तो उसके साथ ही व्युत्थान-संस्कार का लय होजाता है। इस ही ठहरे हुए अन्तःकरण में अर्थात् निरुद्ध-संस्कार के उदय के समय अन्तःकरण में संस्कार के बीजरूपेण रहने से जो कुछ सूक्ष्मरूपेण परिणामी-अवस्था रहती हैं उन्हीं अवस्थाओं का नाम निरोध परिणाम है। इस अवस्था से तात्पर्य यह है कि जब अन्तःकरण चंचलरूप व्युत्थान-संस्कार से अचंचलरूप निरोध-संस्कार में परिणत होता है तब उसके मध्य में अन्तःकरण की वृत्तियां निरुद्ध तो होगई हों परंतु बीजरूपेण अभी कुछ कुछ उपस्थित हों; इस प्रकार कारणरूपेण सबीज-अवस्था को निरोध परिणाम कहते हैं। अर्थात् जब अन्तःकरण में व्युत्थान संस्कार लय होते हैं और निरोध-संस्कार प्रकट होते हैं, तब अन्तःकरण दोनों संस्कारों से युक्त होने पर भी निरोध रूप ही प्रतीत होता है; अन्तःकरण की इस दशा को निरोध-परिणाम कहते हैं।

तस्यप्रशांतवाहितासंस्कारात् ॥ १० ॥

इस संस्कार से अन्तःकरण की शान्ति प्रवाहित होती है ॥ १० ॥

निरोध करनेवाले संस्कारों से ही निरोध करनेवाले सं-

स्कार की चंचलता दबकर अन्तःकरण में निरुद्ध संस्कार प्रबल होजाते हैं तब स्वतःही व्युत्थान-संस्कार लय होजाते हैं, और क्रमशः निरोध-संस्कार की प्रबलता होने के कारण रहा सहा निरोध परिणाम भी लय होता हुआ अन्तःकरण में शान्ति प्रवाह बढ़ाय देताहै । इस प्रकार -निरोध-परिणाम के अनन्तर अन्तःकरण प्रशान्त होजाता है ।

सर्वार्थतैकाग्रतयोःक्षयोदयौचित्तस्यसमाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

सर्वार्थता का क्षय और एकाग्रता का उदय ही अन्तःकरण में समाधि का परिणाम है ॥ ११ ॥

महर्षि सूत्रकार पूर्व्व सूत्रों में निरोध परिणाम का वर्णन करके अब इस सूत्र द्वारा समाधि परिणाम का वर्णन कर रहे हैं। नाना विषयों के संस्कार से जो अन्तःकरण की चंचलता होती है उसका नाम ही सर्वार्थता है; यह सर्वार्थता भी अन्तःकरण का गुण है, और एकाग्रता भी अन्तःकरण का गुण है । सर्वार्थता जिस समय लय होती जाती है उसही समय अन्तःकरण में एकाग्रता का उदय होता जाता है; इस प्रकार एकाग्रता की पूर्णावस्था की प्राप्ति से अन्तःकरण में जो परिणाम का उदय होता है वही समाधि कहाती है । यह पूर्व्व ही कह चुके हैं कि उन्नत-भूमि में प्राप्त हुआ ज्ञान ही साधक को उन्नततर और श्रेष्ठ भूमि में स्वतः ही पहुँचा देता है; इस प्रकार एकाग्रता की उन्नत-भूमि में जब अन्तःकरण पहुँच जाता है तब स्वतः ही वह पुनः

समाधि-भूमि को प्राप्त होजाता है, पूर्व्व कथित क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़-वृत्तियां तो एकाग्र वृत्ति से ही नाश हो चुकी थीं; अब एकाग्र-वृत्ति से ही एकाग्र वृत्ति का नाश होकर निरुद्ध वृत्ति की सहायता से समाधि-भूमि का उदय होजाता है।

ततःपुनःशांतोदितौतुल्यप्रत्ययौचित्तस्यै-काग्रतायाःपरिणामः ॥ १२ ॥

तब शान्त-प्रत्यय और उदित-प्रत्यय की समानता से जो ज्ञान होता है वही एकाग्रता का परिणाम है ॥ १२ ॥

जिस योगी का अन्त करण सावधान होगया है वह सावधानता की प्रथम अवस्था शान्त-प्रत्यय कहाती है। पुनः जब उस शान्त भूमि में अन्तःकरण लगा हुआ रहने लगता है, तब उस अवस्था का नाम उदित प्रत्यय है, यह दोंनों ही ठहरे हुए अर्थात् स्थिर-अन्त करण के लक्षण हैं, इस कारण दोंनों समान हैं; और इन दोंनों अवस्थाओं में जो अन्त करण की स्थिति होती है वही एकाग्रता परिणाम है।

एतेनभूतेन्द्रियेषुधर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

इस से इन्द्रियों मे धर्म्म-परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था-परिणाम भी होता है ॥ १३ ॥

पूर्व सूत्र में जो चित्त अर्थात् अन्त करण परिणाम का

वर्णन किया गया है, उससे इन्द्रियों में जो तीन प्रकार के परिणाम होते हैं उनको भी समझना उचित है । अन्तःकरण में उत्थान और निरोध रूपी धर्म्म के प्रादुर्भाव और तिरोभाव मे जो परिवर्त्तन होता है उसे धर्म्म-परिणाम कहते हैं; अर्थात् तब पूर्व-धर्म्म-निवृत्ति होकर उत्तर-धर्म्म की स्थिति होजाती है। अन्तःकरण का लक्षण परिणाम तीन प्रकार का होता है ; अर्थात् जब अनागत-लक्षण का परित्याग करके केवल अतीत-लक्षण का अनुसरण करता है उसे भूतलक्षण परिणाम कहते हैं; इस भूतलक्षण-परिणाम में अतीतलक्षण-परिणाम अन्नकाल के परिणाम से अभिन्न नहीं है, क्योंकि वर्त्तमानलक्षण-परिणाम और अनागतलक्षण-परिणाम का अंश भी उसमें रहता है; इसी रीति से वर्त्तमानलक्षणपरिणाम और अनागतलक्षणपरिणाम को भी समझना उचित है; क्योंकि जब योगी का चित्त समाधि अथवा निरोध दशा को प्राप्त होजाता है तब यदि पुनः चंचलता को धारण करले तो उसकी तीन प्रकार की अवस्था कहावेगी; अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान भेद से उनका नाम रक्खा जासक्ता है। और अवस्था-परिणाम उसको कहते हैं कि जिस क्षण में निरोध-संस्कार के उदय होने से व्युत्थान-संस्कार का बल क्षीण होजाता है, वही निरोध-संस्कार में चलती हुई अवस्था तीसरी अवस्था है । इस प्रकार धर्म्मी अर्थात् अन्तःकरण में उत्पत्ति, स्थिति, और लय-क्रिया को धारण करते हुए धर्म्म-परिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम रूपी तीन परिणाम हुआ करते हैं; इससे यही समझना उचित है कि इन तीनों परिणामों से शून्य अन्तःकरण होही नहीं सक्ता ।· यथार्थ

में परिणाम एकही है, केवल धर्म्म और धर्म्मी के भेद से यह सब प्रपंच होता है; अर्थात् धर्म्म ही रूपान्तर को प्राप्त होजाता है; जैसे सुवर्णमय पात्र को तोड़कर यदि कोई अलंकार अथवा और कोई पदार्थ बनवाना चाहें तो उस बनवाने रूप परिणाम से केवल मात्र उस पदार्थ के रूप में ही परिवर्त्तन देख पड़ेगा, परन्तु सुवर्ण के स्वरूप में कुछ भी भेद नहीं होगा । अब यदि कोई ऐसा सन्देह करे कि एकही व्यक्ति में भविष्यत, वर्त्तमान और भूत लक्षणों का होना असम्भव है, यदि ऐसा हो तो उस से अध्वसङ्करता दोष हो जावेगा ? इस के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि एक काल में सब परिणाम नहीं होते, किन्तु यथाक्रम से हुआ करते हैं; जैसे किसी मनुष्य में जब राग होता है तब ऐसा नहीं कह सकते कि उस मनुष्य में क्रोध नहीं है, परन्तु ऐसा देखने में आता है कि राग और क्रोध एक समय में नहीं हुआ करते; जैसे जब कोई कामी पुरुष किसी स्त्री में अनुरक्त होता है तब वह और स्त्रियों में विरक्त भी नहीं होता; वैसे ही पूर्वोक्त परिणामों में भी संकर-दोष नहीं आ सकता; अर्थात् परिणाम केवल धर्मी के धर्म में और धर्म के लक्षण में होता है; द्रव्य परिणाम एक ही रहता है ।

तत्रशान्तोदिताव्यपदेश्यधर्म्मानुपातीधर्म्मीयोग्यत्वावच्छिन्नाधर्म्मिणःशक्तिरेवधर्म्मः॥१४॥

उस से शान्त और उदित-धर्म्म से युक्त धर्म्मी होता है; धर्म्मी की योग्यता के अनुसार जो शक्ति होती है उसका नाम धर्म्म है॥१४॥

--पूर्वोक्त चित्त के परिणाम से जो कार्य्य की अतीत-अवस्था है-अर्थात् जो अपने अपने कार्य्य को करके अतीत भूतमार्ग में प्रवृष्ट होचुके हैं वही शान्त कहाते हैं; अर्थात् न वे वर्त्तमान काल में कुछ करते हैं और न भविष्यत् में उनको कुछ कर्त्तव्य हैं। उदित उनको कहते हैं कि भविष्यत्-मार्ग में अभी प्रकट नहीं हुए, परन्तु वर्त्तमान-मार्ग में अपने व्यापार को कर रहे हैं । अव्यपदेश वह है कि जो शक्ति रूप से स्थित है, जैसे रक्खा हुआ धन; अर्थात् स्थित शक्ति है परन्तु कार्य्य कुछ भी नहीं कर रही है। नियमित कार्य्य कारणरूप शक्ति से संयुक्त जो हो वही धर्म्म कहाता है; इन तीनों धर्म्मों को जो ग्रहण करें वही धर्म्मी कहाते हैं; अर्थात् जैसे सुवर्ण का डला अपने आकार को परित्याग करके अलंकार का रूप धारण करलेता है, वह सामान्य से विशेष होने पर भी सुवर्ण ही प्रतीत होता है; वैसे ही धर्म्मी से धर्म्म का सम्बन्ध जानना उचित है । धर्म्म और धर्म्मी भिन्न भिन्न फल की उत्पत्ति से जाने जाते हैं; जैसे वर्त्तमान धर्म्मकार्य्य परिवर्तन से अव्यपदेश और शान्त-धर्म्मों में परिवर्तित होजाता है, वैसे ही जब धर्म्म सामान्य रूप से रहता है तब उस में धर्म्मी अर्थात् आत्मा अपने यथावत्‌रूप में प्रतीत होते हैं । धर्म्म के परिवर्त्तन से धर्म्मी कैसा ही प्रतीत हो अर्थात् प्रकृति रूपी रंग के प्रभाव से आत्मा-रूपी स्फटिक मणि कैसे ही रंग का अनुमान होने लगे परन्तु स्फटिकमणि स्वच्छ ही है; और उसकी स्वच्छता से ही रंगों का विकाश है । इस सूत्र से यही तात्पर्य्य है कि शान्त-अवस्था अर्थात् जिसका कार्य्य समाप्त होगया हो, उदित अवस्था अर्थात् जिसका कार्य्य वर्त्तमान होरहा हो, और अव्यय अवस्था अर्थात्

जो केवल शक्तिरूप से ही स्थित होरही हो, इन तीनों प्रकार के धर्म्मयुक्त जो आत्मा है वे ही "शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्म्मानुपाती धर्म्मी,, कहाते हैं।

क्रमान्यत्वंपरिणामान्यत्वेहेतुः ॥ १५ ॥

उक्त परिणामों का हेतु क्रम का परिणाम है ॥ १५ ॥

यदि ऐसा प्रश्न उठे कि एक धर्म्म का एकही परिणाम होता है, अथवा सब परिणाम एक ही काल में होते हैं? ऐसे प्रश्न की मीमांसा में महर्षि सूत्रकार ने इस सूत्र का आविर्भाव किया है। क्रम के अदल बदल से ही परिणामों का परिवर्त्तन हुआ करता है; अर्थात् जैसे प्रथम मिट्टी के परमाणु होते हैं, पुनः उन से मिट्टी का पिंड बनता है, पुनः मिट्टी के पिंड से घट बनता है, घट फूट कर कपाल होजाता है, कपाल से ठीकरे होजाते हैं, पुनः ठीकरे परमाणु में परिणत होते हुए मिट्टी के रूप को ही धारण करलेते हैं; वैसे ही पूर्व्व-वृत्ति उत्तर-वृत्ति का पूर्व्वकारण होता हुआ क्रम के अनुसार धर्म्मान्तर परिणाम को धारण करता है। घड़ का अनागतभाव से वर्त्तमानभाव क्रम कहाता है, और वर्त्तमानभाव से अतीतभाव क्रम कहाता है; परन्तु अतीतभाव का कोई भी क्रम नहीं है, क्योंकि पूर्व्वपर सम्बन्ध से क्रम होता है; जैसे घड़े का परिणाम है, वैसे ही पूर्व्व सूत्र में कहे हुए अतीत आदि परिणामों का हेतु क्रम-परिणाम है; अर्थात् प्रकृति की सब तरंगों का परिवर्त्तन और अन्तःकरण में सुख दुःख आदि धर्म्मों का परिवर्त्तन सब ही इस क्रम नियम पर ही है।

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

अब सिद्धियों का वर्णन महर्षि सूत्रकार कर रहे हैं; परिणामों में संयम से भूत और भविष्यत् का ज्ञान होता है ॥ १६ ॥

धर्म्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम जिनका कि वर्णन पूर्व आचुका है, उन में संयम करने से योगी को भूत और भविष्यत् काल का ज्ञान होता है । संयम का वर्णन भी पूर्व कर ही चुके हैं, उस प्रकार से यदि साधक को सिद्धि की आवश्यकता हो तो, इन तीनों परिणामों में संयम रूप साधन करने से योगी को पूर्णरूपेण काल का ज्ञान होजायगा; अर्थात् धर्म्म-परिणाम में संयम करने से भूत-काल के ज्ञान, लक्षण-परिणाम में संयम करने से वर्त्तमान काल के ज्ञान और अवस्था-परिणाम में संयम करने से भविष्यत्-काल के ज्ञान द्वारा योगी त्रिकालदर्शी होसकता है । इस प्रकार परिणामों में संयम करके योगी त्रिकालज्ञान लाभ द्वारा सत् असत् विषयों का अनुसंधान कर सकता है; और भविष्यत् विघ्न आदि को जान कर उनके मेटने के अर्थ तीव्र पुरुषार्थ अर्थात् दृष्ट-कर्म्मों की सृष्टि करसकता है ।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

शब्द, अर्थ और ज्ञान के एक दूसरे में मिले रहने से संकर अर्थात्

घनिष्ट मेल है, उनके विभागों में संयम करने से सब,
प्राणियों की वाणी का ज्ञान होता है ॥ १७ ॥

शब्द, अर्थ और प्रत्यय के विचार से वाणी अक्षरों में ही अर्थ युक्त होती है, क्योंकि विना अक्षर की ठीक ठीक योजना से किसी शब्द का अर्थ नहीं होता है; कान केवल उस वाक्य-ध्वनि को ग्रहण करके अन्तःकरण में पहुँचाता है; तदपश्चात् बुद्धि उस ध्वनि के क्रम-ज्ञान द्वारा शब्दार्थ को ग्रहण करती है। शब्द के अक्षर सब एक समय में उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि जब पहिला अक्षर अपने बोध को उत्पन्न करके नष्ट होजाता है तब दूसरा अक्षर उत्पन्न होता है; इसी प्रकार से प्रत्येक अक्षर का आविर्भाव हुआ करता है; परन्तु वे सब अपने सहकारी अक्षरों से सम्बन्ध रखते हैं; जैसे गौः शब्द में गकार, औकार और विसर्ग अपने अपने क्रम से उच्चारित होकर शब्द रूप को धारण करके अपनी अपनी स्वतन्त्र शक्ति को परस्पर में मिलाय जो एक ध्वनि विशेष उत्पन्न करते हैं, उस ही ध्वनि-विशेष से जीव विशेष का ज्ञान होजाता है। जैसे प्रत्येक अक्षर की ध्वनि की व्यष्टि से उत्पन्न हुए समष्टि रूप गौ शब्द की ध्वनि से सम्बन्ध है, वैसे ही गौ शब्द की ध्वनि से गौ रूप जीव का सम्बन्ध है; अर्थात् गौ शब्द का उच्चारण होतेही गौ रूप प्राणी का ज्ञान होजाता है; इस के उदाहरण में विचारना उचित है कि यदि किसी मूर्ख के निकट कहा जाय कि "गौ लाओ,, तो वह तुरंत ही गौ रूपी जीव के द्वारा "गौ,, को ले आवेगा; परन्तु यदि उस से पूछा जाय कि 'गौ, शब्द में कौन कौन वर्ण हैं तो वह नहीं बतासकेगा। जिस प्रकार

व्यष्टि रूप से वर्ण की ध्वनि का सम्बन्ध है, वैसे ही समष्टि रूप शब्द की ध्वनि से शब्द-ज्ञान का सम्बन्ध है। इस कारण शब्द में, अक्षर में और ज्ञान में अभेद-सम्बन्ध रहने के कारण उन शब्द-विभागों में संयम करने से योगी को नाना जीवों की बोली का ज्ञान होसकता है। जिस प्रकार मनुष्य जीव है उसी प्रकार और प्राणी भी जीव हैं, केवल मनुष्य में ज्ञान की अधिकता का भेद है; जैसे अपनी अन्तर्वृत्ति को मनुष्य वाक्य द्वारा प्रकाश कर सकता है, वैसे ही अपनी अन्तर्वृत्ति को और जीव भी उनके शब्द अर्थात् बोली द्वारा प्रकाश किया करते हैं। जैसे अंग-कम्पन, छींक आदि प्रकृति के इंगित द्वारा जीव को भविष्यत्-ज्ञान होसकता है, वैसे ही नाना जीवों की उच्चारित ध्वनि द्वारा भी भविष्यत्-ज्ञान होसकता है। समय समय पर ज्ञान कृत् अपनी मनोवृत्ति को जीवगण प्रकाश किया करते हैं, परन्तु बुद्धि का अभाव होने के कारण बहिःप्रकृति की शक्ति से वशीभूत होकर वे समय समय पर प्रकृति के इंगित को प्रकाश किया करते हैं; यह प्रकृति इंगित प्रकाश करने की शक्ति गुणभेद के कारण विशेष विशेष प्राणियों में विशेष विशेष रूप से होती है। इस प्रकार जीव के उच्चारित ध्वनि-विभाग में संयम करने से योगी-गण उस जीव की स्वाभाविक ध्वनि से उस के अन्तःकरण का भाव और अस्वाभाविक ध्वनि से भविष्यत् घटना का अनुमान करले सकते हैं।

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

संस्कारों के प्रत्यक्ष होने से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है ॥ १८॥

पूर्व जन्म के संस्कार दो प्रकार के हुआ करते हैं, यथा–

प्रबल और मंद; प्रबल-संस्कार वे कहाते हैं कि जिनके द्वारा कर्म्म-विपाक उपस्थित होकर बलपूर्व्वक कर्म्म करा डालते हैं; और मंद-संस्कार वे कहाते हैं कि जिनके द्वारा केवल वासना ही उपस्थित होकर इच्छा रूप से जीव के अन्तःकरण में क्लेश उत्पन्न करती है। पूर्व्वजन्म के कर्म्मफलरूपी संस्कारों में संयम करने से पूर्व्वजन्म का ज्ञान और पर-संस्कारों में संयम करने से परजन्म का ज्ञान योगी को हो सक्ता है; क्योंकि संस्कार कर्म्म से ही उत्पन्न होते हैं, अर्थात् संस्कार कियेहुये कर्म्मों के छायारूप दाग हैं; जैसे मनुष्य के छायारूप दाग को यन्त्र द्वारा धारण करने की शक्ति उत्पन्न करके वैज्ञानिकगण "फ़ोटोग्राफ़" में मनुष्य-मूर्ति को यथावत् प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही संस्कारों में संयम करने से संस्कार के कारणरूप कर्म्मों का यथावत् ज्ञान योगी को हो सक्ता है।

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भेचक्षुः प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ १९ ॥

कायागत रूप में संयम करने से उसकी शक्ति का स्तम्भ हो-
जाता है, और शक्तिस्तम्भ होने से नेत्र के प्रकाश का
संयोग नहीं होता; तब योगी को अन्तर्धान
होता है ॥ १९ ॥

रूप से रूप का सम्बन्ध है; किसी की काया के रूप में संयम करने से उसके नेत्र के रूप रूपी जो ग्राह्य शक्ति है, अर्थात् जिस रूप-शक्ति से वह औरों को देखता है उस शक्ति का स्तम्भन होजाता है। जब उसकी दृक्शक्ति स्तम्भित होगई तब

आपही वह योगी को देख नहीं सकेगा; इस प्रकार काया के रूप में संयम करने से योगी दूसरे की दृष्टि से बचकर अन्तर्ध्यान हो सकता है । संसार में दृक्शक्ति स्तम्भन की क्रिया सचराचर देखने में आती है; कभी कभी स्वाभाविक रीति पर नेत्र खुले रहने पर भी दृष्टिशक्ति स्तम्भित होजाने पर मनुष्य कुछ नहीं देखसक्ता; ऐसी क्रिया इन्द्रजाल के खेलों में भी देखने में आती है; अर्थात् जब खेल दिखानेवाले अनेक पदार्थों का संयोग और वियोग रूप खेल दिखाया करते हैं, तब इन्द्रजाल-विद्या से दर्शकों के नेत्र स्तम्भित होजाने से वे उन पदार्थों के संयोग वियोग का अन्वेषण नहीं कर सकते । जब इन्द्रजाल की साधारण क्रिया द्वारा इस प्रकार से दृष्टिशक्ति स्तम्भित होजाती है, तो योगीराज महात्माओं की संयम-क्रिया से क्या नहीं हो सकता?

प्रत्ययस्यपरचित्तज्ञानम् ॥ २० ॥

ज्ञान में संयम करने से पराये चित्त का ज्ञान होता है ॥ २० ॥

सब अन्तःकरण एकजातीय हैं; और ज्ञान के द्वारा ही सब वस्तुओं का ज्ञान हुआ करता है । अन्तःकरण-स्थित-ज्ञान एकजातीय होने पर भी केवल अहंकार के कारण स्वतंत्र स्वतंत्र होरहा है; और इसी स्वतंत्रता के कारण ही एक ज्ञान दूसरे के ज्ञान को ग्रहण नहीं कर सक्ता । परन्तु योगी जब ज्ञान में संयम करने लगता है तब ही वह अपने अन्तःकरण से दूसरे अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध स्थापन करके दूसरे अन्तःकरण के भावको ग्रहण कर सक्ता है । इस प्रकार योगी बुद्धि में संयम करके पराये चित्त का ज्ञाता होसक्ता है ।

नतत्सालम्बनन्तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २१ ॥

परन्तु उससे अवलम्बन का ज्ञान नहीं होता वह विषय से होता है ॥२१॥

पूर्व सूत्र में कह चुके हैं कि ज्ञान में संयम करने से दूसरे के अन्तःकरण का ज्ञान होसक्ता है; अब महर्षि सूत्रकार इस सूत्र द्वारा स्पष्ट करते हैं कि, यदिच उस से दूसरे के अन्तःकरण का ज्ञान होता है, परन्तु अन्तःकरण के विषय का ठीक ठीक ज्ञान नहीं होसक्ता; यदिच उस से समष्टिरूप अन्तःकरण का साधारण-ज्ञान होजाता है, परन्तु सृष्टिरूप विशेष-ज्ञान के अर्थ संयम को स्थानान्तर में बढ़ाना पड़ता है । जब योगी दूसरे अन्तःकरण में संयम द्वारा पहुंचकर तद्विषयों में पुनः संयम को बढ़ाता है तबही उसको विस्तारित विषयों का ज्ञान भी हो सक्ता है । इसी प्रकार प्रथम ज्ञान में संयमद्वारा दूसरे के अन्तःकरण में पहुंच कर पुनः तद्विषयों में संयमद्वारा योगी दूसरे के अन्तःकरण का विस्तारित विवरण जान सक्ता है ।

सोपक्रमंनिरुपक्रमञ्चकर्मतत्संयमादपरांतज्ज्ञानमरिष्टेभ्योवा ॥ २२ ॥

सोपक्रम और निरुपक्रम जो दो प्रकार के कर्म हैं, उनमें संयम करने से मृत्यु का ज्ञान होता है; अथवा दुःखों से मृत्यु का ज्ञान होता है॥ २ ॥

पूर्व सूत्रों में कर्म्म विपाक से आयु का स्थिर होना प्रमाणित हो चुका है । जिस कर्म्मफल द्वारा आयु स्थिरकृत होती है उस को दो भागों में विभक्त कर सक्ते हैं; यथा सोपक्रम और निरुपक्रम ।

जैसे जल के भीगे हुए वस्त्र को निचोड़कर सुखा देने से वस्त्र शीघ्र सूख जाता है, जैसे शुष्क काष्ठ में अग्नि लगा देने से काष्ठ शीघ्र जलकर भस्म होजाता है, वैसे ही कर्म्म विपाक की तीव्रता के कारण वे शीघ्र फलदायक होजाते हैं; यह शीघ्र कार्य्यकारी आयु की अवस्था सोपक्रम कहाती है। जैसे बिना निचोड़ा पिंडाकृत वस्त्र बहुतकाल में सूखता है, जैसे गीली लकड़ी के ढेर में एक ओर से आग लगाने पर बहुत कालान्तर में वह ढेर भस्मीभूत होता है; वैसे ही कर्म्म विपाक की मंदता के कारण विलम्ब से फलदायक होते हैं, यह विलंब से कार्य्यकारी अवस्था निरुपक्रम कहाती है। इन दोनों प्रकार के कर्म्म विपाकों में संयम करने से योगी को यह विचार होजाता है कि मृत्यु कितने दिन में आनेवाली है, और अमुक स्थान और अमुक रीति पर शरीर छूटनेवाला है। जिस प्रकार योगी को सोपक्रम और निरुपक्रम रूपी कर्म्म विपाक में सयम करने से मृत्युज्ञान होता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अरिष्टों में संयम करने से भी मृत्युज्ञान होसक्ता है। आध्यात्मिक अरिष्ट के फल से इन्द्रिय शक्ति में आन्तरिक निर्बलता आजाती है, जिसके उदाहरण में शास्त्रों में लिखा है कि "तब कान बन्द करने से साधारण रीति पर जो एक शब्द की ध्वनि सुनाई देती है वह नहीं सुनाई देती, नेत्र बंद करने से जो बहुप्रकार की अन्तर्ज्योति दिखाई देती है वह तब नहीं दिखाई देती," इत्यादि आन्तरिक शक्ति की हीनता ही आध्यात्मिक दुःख (अरिष्ट) है। जब बिना मनन, बिना कारण ही यमदूत और पितरों के दर्शन होने लगें तो उन भौतिक लक्षणों को आधिभौतिक अरिष्ट समझना उचित है।

उसही प्रकार जब बिना किसी विशेष कारण के अधिक सुखदायक लोक अथवा दिव्य देव शरीरों का दर्शन होतो उन दैविक लक्षणों को आधिदैविक अरिष्ट समझना उचित है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक आरिष्ट में संयम करने से मृत्युज्ञान भली भांति हो सक्ता है, परंतु विचार इतना ही है कि यह अरिष्ट मृत्यु से बहुत निकट समय पर ही दिखाई देते हैं; इसकारण इनसे बहुत दिन पूर्व्व मृत्यु ज्ञान की सम्भावना नहीं। परंतु पूर्व्व कथित सोपक्रम और निरुपक्रम विपाकों में संयम करने से जब चाहे तब ही योगी मृत्यु का ज्ञान लाभ कर सक्ते हैं।

मैत्र्यादिषुबलानि ॥ २३ ॥

मैत्री आदि में संयम करने से बल की प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा यह चार प्रकार की श्रेष्ठ भावना कहाती हैं। यह पूर्व्व ही कह चुके हैं कि साधक को सुखी प्राणियों में मैत्री-भावना, दुःखी प्राणियों में करुणा भावना, धर्म्मात्माओं में मुदिता भावना और पापीगणों में उपेक्षाभावना करना उचित है; अर्थात् ऐसा अभ्यास करने से योगी योग-मार्ग में अग्रसर होता है। अब इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि उन चारों में संयम करने से योगी मैत्री बल, करुणा बल, मुदिता बल और उपेक्षा बल की प्राप्ति करके पूर्णबलशाली होजाता है; और पुन योगी के अन्तःकरण में कोई प्रतिबन्धन नहीं कर सक्ता। इन चारों में से तीन ग्रहणीय और एक में उपेक्षा होने के कारण त्याजनीय है; चाहे और किसी

आवश्यकता से चारों ही कार्यकारी हैं; परन्तु बल के संग्रह से प्रधानतः मैत्री, मुदिता और करुणा में संयम करना ही उपकारी होगा।

बलेषुहस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

बल में संयम करने से हस्ति के बलादि प्राप्त होसक्ते हैं ॥ २४ ॥

यदिच सब बल एकही रूप है, परन्तु प्रकृति विभिन्न होने के कारण बल में स्वतंत्रता है; यथा— सिंहबल, हस्तिबल, नभचर-बलशाली पक्षियों का बल, और जलचर-बलशाली मकर आदि का बल इत्यादि। जिस प्रकार के बल की आवश्यकता हो उसी प्रकार के बलशाली जीवों के बल में संयम करने से योगी को उस प्रकार के बल की प्रधानता प्राप्त हुआ करती है । उसी प्रकार वायु में संयम करने से साधारण बल की अधिकता हो जाती है।

प्रवृत्त्याऽऽलोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहित विप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

पूर्वोक्त ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के प्रकाश में संयम करने से सूक्ष्म, गुप्त, और यथार्थ अर्थों का ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

प्रथम पाद में जो साम्यावस्था सात्विक-प्रकृति का दर्शन अर्थात् ज्योतिः दर्शन का वर्णन होचुका है; उस अन्तर्ज्योति में संयम करने से योगी को सूक्ष्म, गुप्त और यथावत् उत्तम अर्थ का ज्ञान होसक्ता है। सत्वगुण ही पूर्णप्रकाश रूप है; जहां स-

त्वगुण का पूर्ण प्रकाश है वहीं ज्ञान का पूर्ण उदय होसक्ता है; इस प्रकार सात्विक तेज में संयम करके उसकी सहायता से योगी सूक्ष्म से अति सूक्ष्म-विषय, गुप्त सें अति गुप्त-विषय और गंभीर से अति-गंभीर-अर्थ आदि का ज्ञान लाभ कर सक्ता है। अर्थात् सात्विक प्रकाशरूप ज्योतिष्मती प्रवृति साम्यावस्था रूप सत्वगुण का रूप है, उसकी सहायता द्वारा योगी यदि अन्वेषण करना चाहें तो.वे सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म परमाणु तक को दृष्टिगोचर कर सकेंगे; भूमि में छिपे हुए अतिगुप्त पदार्थों को भी जान सकेंगे; और गंभीर दुर्गम अर्थ को भी समझ सकेंगे।

भुवनज्ञानंसूर्य्येसंयमात् ॥ २६ ॥

सूर्य्य में संयम करने से भुवन का यथार्थ ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

पूर्व्व सूत्र में अन्तर्ज्योति में संयम करने से जो फल की प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर चुके हैं। ज्योतिःशास्त्र से यह प्रमाणित है कि अपने सौर्य्यजगत् के सूर्य्यही अपने ग्रह पृथिवी के केन्द्र रूप हैं; और इनके प्रकाश से ही अपने सौर्य्यजगत् अर्थात् स्वर्ग, मर्त्य और पाताल लोक आदि प्रकाशित हुआ करते हैं। जैसे अपने सौर्य्यजगत् के केन्द्र अपने सूर्य्य हैं, वैसेही और बहुत से सौर्य्यजगतों के केन्द्र एक वृहत् सूर्य्य हैं; उसी प्रकार पुनः अगणित वृहत् सौर्य्यजगतों के केन्द्र एक विराट् सूर्य्य हैं; इसी प्रकार उत्तरोत्तर विस्तार होताहुआ सृष्टि का अनन्त प्रवाह है। यदिच पूर्व्वापर विराट् सूर्य्य से वृहत् सूर्य्य और वृहत् सूर्य्य से हमारे सूर्य्य का सम्बन्ध है, तत्रच हमारे सौर्य्यजगत् के ग्रह और उपग्रहगण हमारे सूर्य्य सेही प्रकाश को प्राप्त होते हैं। अ-

पने सूर्य्य देव ही अपने सौर्य्यजगत् के केन्द्र हैं, अपने सूर्य्य देव ही अपने सौर्य्यजगत् रूपी त्रिभुवन में शक्ति और तेज के प्रकाशक हैं। इसकारण योगी यदि उनमें संयमकरे तो उस संयम द्वारा भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक में जितने भुवन अर्थात् ग्रह उपग्रह आदि हैं उन सबके पदार्थों का उनको भली भांति ज्ञान होसक्ता है। यदिच अपने सौर्य्यजगत् के जानने का यह उपाय है, तत्रच यदि योगी अन्यान्य सौर्य्यजगत् का विवरण जानना चाहें तो वे इसी रीति के अनुसार अपने सूर्य्य से उत्तरोत्तर और२ बृहत् सूर्य्यों में संयम करते हुए उनके द्वारा उनके आधीन जगतों का भी विवरण जान सकेंगे।

चन्द्रेताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

चन्द्रमामे संयम करने से नक्षत्र के व्यूहका ज्ञान होता है ॥ २७ ॥

नक्षत्र किस प्रकार के लोक हैं, यदिच इसका विस्तारित विवरण जानने की दूसरी रीति है; तथापि नक्षत्र व्यूह का रूप अर्थात् ताराओं की राशि का बोध चन्द्रमा में संयम करने से ही होसक्ता है। अपने सौर्य्यजगत् का सीधा सम्बन्ध तारागणों से नहीं है; अर्थात् जैसे अपने सूर्य्य से अपने ग्रहों का सम्बन्ध है वैसा सम्बन्ध अपने सूर्य्य से नक्षत्रों का नहीं है; नहीं तो अपने सूर्य्य में संयम करने से ही सम्पूर्णतः नक्षत्रगणका बोध होसक्ता था। नक्षत्र राशि से अपने चन्द्रमा का कुछ विलक्षण सम्बन्ध है; उसी कारण नक्षत्र राशि के विषय में यदि योगी कुछ जानना चाहें तो वे चंद्रमा में संयम करने से जान सकेंगे। पृथिवी केवल एक दिन में प्रायः दो घंटे तक बारह राशियों को एक एक बार दे-

रहा करती है, किन्तु अपना चन्द्र-उपग्रह प्रतिदिन अपनी पृथ्वी की एकबार प्रदक्षिणा करलेता है और अपने केन्द्र में भी कईबार घूमाकरताहै, सुतरां प्रत्येक दिन में वह चारों ओर से राशियों को कईबार दर्शन कर सका है; इसी कारण चन्द्रलोक में संयम करने से योगी को राशिचक्र का ज्ञान सुगम रीति से भली भांति होसक्ता है; राशि-विचार में चन्द्र की यही विलक्षणता है।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

ध्रुव में संयम करने से उनकी गति का ज्ञान होता है॥२८॥

जैसे अपने सूर्य्य से अपने ग्रहों का सम्बन्ध है; वैसे ही ध्रुव नामक महासूर्य्य से नक्षत्रगणों का सम्बन्ध है; इस कारण ध्रुव में संयम करने से उन नक्षत्रगणों की गति का ज्ञान होसक्ता है। ध्रुव निश्चल रूप से उत्तम दिशा में स्थित रहते हैं; यदिच प्राकृतिक नियम के अनुसार ग्रह, उपग्रह, सूर्य्य, महासूर्य्य, नक्षत्र, धूमकेतु आदि सब ग्रह और महाग्रहगण अपनी अपनी रीति पर अपने अपने पथ में भ्रमण किया करते हैं; और उन सबों का यथावत् भ्रमण करना भी प्रकृति के दुर्दमनीय नियम से स्वतःसिद्ध है; तत्रच ध्रुवलोक हमारे सौर्य्यजगत् से इतना दूरवर्ती है कि उस दूरता के कारण हम लोग उनको स्थिर ही देख रहे हैं; जैसे दूरवर्ती देश में स्थित किसी अग्नि-शिखा को अपने स्वभाव से चंचल होने पर भी हम जैसे एक अचंचल ज्योतिर्मयरूपवाली देखते हैं, वैसे ही ध्रुव के चलने फिरने पर भी [उस चलने का हमारे लोक से कोई संबंध न रहने के कारण, और परस्पर में अगणित दूरत्व होने के कारण] हम लोग ध्रुव को अचंचल ध्रुव ही निश्चय करते हैं। परंतु ध्रुव से नक्षत्रों

का निकट सम्बन्ध है, इस कारण उन में संयम करने से नक्षत्रों की गति का भली भांति बोध हो सक्ता है।

नाभिचक्रेकायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

नाभिचक्र में संयम करने से शरीर के समुदाय का ज्ञान होता है॥२९॥

शरीर के सात स्थानों में सात कमल अर्थात् चक्र हैं; जिन में से छः चक्रों में साधन करके सिद्धि प्राप्त होने पर तब सातवें में पहुंचकर मुक्ति प्राप्त होती है; इसीलिये योग-मार्ग के चार मार्गों में से लययोगवालों ने इस षट्चक्रभेदन-क्रिया को ही प्रधान मानकर ग्रहण किया है। उन साधन के छः चक्रों में से नाभि के निकट स्थित जो तीसरा चक्र है, उस चक्र में संयम करने से योगी को शरीर का विशेष ज्ञान हो सक्ता है; अर्थात् शरीर में किस प्रकार का पदार्थ किस प्रकार से है; वात, पित्त और कफ यह तीन दोष किस रीति से हैं; चर्म्म, रुधिर, मांस, नख [illegible] वसा (चर्बी) और वीर्य यह सात धातु किस प्रकार [illegible] से ही का विस्तारित ज्ञान नाभि-चक्र में संयम करने से प्राप्त[illegible]णों से है। नाभि-स्थान प्राणवायु और अपानवायु का अर्थात् [illegible] है शक्ति और अधोशक्ति का मध्यस्थान है; इस कारण उस केन्द्र[illegible]पने न में संयम करने से समस्त शरीर के सब पदार्थों का बोध भ[illegible]। भांति से सुगम रीति पर होसक्ता है। वायु-विकार से ही शरी[illegible] में नाना धातु-विकार हुआ करता है; अर्थात् जीवनी-शक्ति का [illegible] वायुनाप प्राप्त हुआ है; उस जीवनी शक्ति की अध और ऊर्द्ध गति का केन्द्र नाभिचक्र है; इसीकारण नाभिचक्र के संयम द्वारा

जीवनी-शक्ति की गति के ज्ञान से शारीरिक सब पदार्थों का ज्ञान भलीभांति होसक्ता है ।

कण्ठकूपेक्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

कण्ठ के कूप में संयम करने से भूख और प्यास निवृत्त होजाती हैं ॥३०॥

मुख के भीतर उदर में वायु और आहार आदि जाने के अर्थ
जो कण्ठछिद्र है, उसही को कण्ठकूप कहते हैं, वहां संयम करने से
क्षुधा और पिपासा की निवृत्ति होती है। जैसे तीसरा चक्र नाभि-
मूल में स्थित है, वैसेही पञ्चम चक्र कण्ठकूप में स्थित है, क्षुत्पि-
पासा की क्रिया से उस चक्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसकारण
उस कण्ठकूप स्थित चक्र में संयम करने से योगी भूख और प्यास
को जीत सक्ता है।

कूर्मनाड्यांस्थैर्य्यम् ॥ ३१ ॥

कूर्म नाडी में संयम करने से स्थिरता होती है ॥ ३१ ॥

ने पथ में
करना भीरे जैसा कह चुके हैं कि क्रिया सिद्धान्श के सब विषय
ध्रुवलोद्भव के श्रीमुख से ही प्राप्त हुआ करते हैं, वैसे ही इड़ा, पिङ्गला,
कारणसुषुम्ना आदियों के स्थान और गति, कूर्म्म आदि नाड़ियों
स्थिस्थान, और षट्चक्र का विशेष विवरण इत्यादि क्रिया-सि-
हमन्श भी श्रीमुख से ही प्राप्त हुआ करता है; क्योंकि प्रत्यक्ष पदार्थ
चक्ष्यक्ष शब्दों से यदिच कहा जासक्ता है, परन्तु प्रत्यक्ष करके
केदेखा देने में ही अभ्रान्त रूपेण अनुभव होसक्ता है। पूर्वोक्त
कण्ठकूप में एक कच्छप-आकृति की नाड़ी है, उसको कूर्म्म नाड़ी

कहते हैं; उस नाड़ी से शरीर की गति का विशेष सम्बन्ध है, इसी कारण उस कूर्म्मनाड़ी में संयम करने से शरीर स्थिरता को प्राप्त होता है; और शरीर स्थिर होने से मन भी स्थिर हो-जाता है। आचार्य्यगणों ने लिखा है, कि जैसे सर्प अथवा गोह अपने बिल में जाकर चंचलता और क्रूरता को त्याग देता है, वैसे ही योगी का मन इस कूर्म्मनाड़ी में प्रवेश करते ही अपनी स्वाभाविक चंचलता को त्याग कर देता है।

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

कपाल की ज्योति में संयम करने से सिद्धगणों का दर्शन होता है ॥३२॥

मस्तक के भीतर कपाल के नीचे एक छिद्र है, उसको ब्रह्मरंध्र कहते हैं। उस ब्रह्मरंध्र में मन लेजाने से एक ज्योति का प्रकाश दृष्टिगोचर होता है; उस में संयम करने से योगी को सिद्ध महात्मागणों का दर्शन हुआ करता है। जिस सात्विक प्रकाश का पूर्व्व वर्णन हो चुका है, वह प्रकाश ब्रह्मरंध्र में भी दिखाई दिया करता है; ब्रह्मरंध्र एक ऐसा स्थान है कि जहां प्रकाश का अंश नित्य विराजमान् रहता है; बहिर्प्रकाश की नित्यता के संग अन्तःप्रकाश की नित्यता का नित्य सम्बन्ध है। जितने सिद्ध महात्मागणों का उल्लेख महर्षि सूत्रकार कर रहे हैं उन से यह तात्पर्य्य है कि जीवनमुक्त, ऐशीविभूतिधारी, सिद्धमहात्मागण अर्थात् जो जीवकोटि से उपराम होकर सृष्टि के मङ्गलार्थ ऐशी शक्तियोंको धारण करके एक लोक से लोकान्तर में आकाशपथ द्वारा विचरण किया करते हैं; बहिर्ज्योति से अन्त-

ज्योति का सम्बन्ध होने के कारण, ब्रह्मरंध्रस्थित ज्योति में संयम करने से साधक को उन आकाशविहारी महात्मागणों का दर्शन होजाता है।

प्रातिभाद्वासर्वम् ॥ ३३ ॥

प्रातिभ में संयम करने से संपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है ॥३३॥

योगसाधनं करते करते योगी-गणों को ध्यानावस्था में एक तेजोमय तारा दिखाई दिया करता है, श्रीभगवान् वेदव्यास जी ने इसी तारे का नाम प्रातिभ कहके वर्णन किया है। उस ज्योतिर्मय प्रातिभ-तारे में संयम करने से योगी को पूर्णज्ञान की प्राप्ति होती है। ऐसा शास्त्रों में वर्णन है कि चंचल-बुद्धि मनुष्य-गण प्रातिभ का दर्शन नहीं करसक्ते; भगवत् और गुरु कृपा से जब साधक योगमार्ग में अग्रसर होने लगता है, तब ही उसकी बुद्धि ठहरने लगती है; इस प्रातिभ का दर्शन होना उसके स्थिर बुद्धि होने का पूर्व्व लक्षण है। इसकारण प्रातिभ में संयम करने से योगी पूर्णज्ञान को शीघ्र लाभ कर सक्ता है।

हृदयेचित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

हृदय में संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है ॥ ३४ ॥

षट् चक्रों में से चतुर्थ-चक्र हृदय में स्थित है, उसको हृत्-कमल भी कहते हैं, इस कमल से अन्तःकरण का एक विलक्षण सम्बन्ध है। इस ही हृदय चक्र में संयम करने से योगी को अपने अन्तःकरण का सम्पूर्ण ज्ञान लाभ होसक्ता है। और पुनः संयम को बढ़ा देने से दूसरे के अन्तःकरण की वासनाओं का भी अनुभव होसक्ता है।

सत्वपुरुषयोरन्त्यन्तासंकीर्णयोःप्रत्ययाविशेषोभोगःपरार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

बुद्धि जो पुरुष से अत्यन्त भिन्न है परन्तु ज्ञान से इनकी एकता मानीजाती है, सो भोग कहाता है, अतएव स्वार्थ संयम से पुरुष का ज्ञान होता है ॥ ३५ ॥

बुद्धि विचाररूप अर्थात् ज्ञानरूप है, जीव में अज्ञान से उसका आरोप करने से बुद्धि जीवरूप से प्रतीत होती है, नहीं तो बुद्धि से भिन्न ज्ञान स्वरूप जीव है। यह दोनों अत्यन्त भिन्न होने पर भी ज्ञान द्वारा अभिन्न समझे जाते हैं, अर्थात् ज्ञान ही दोनों में वर्त्तमान है; और ज्ञान द्वारा ही दोनों की एकता हो रही है। परस्पर में उस अभेद ज्ञान को भोग कहते हैं, जो उस भोग से युक्त है और भोग्य से भिन्न ज्ञान स्वरूप है, उस में संयम करने से जीव का विशेष विशेष विवरण जान पड़ता है, अर्थात् भोग के अधिष्ठाता जो पुरुष हैं, वे भोग्य और भोक्ताभाव से अत्यन्त भिन्न हैं, और सत्वगुण रूपी बुद्धि जड और पुरुष चेतन होने से स्वत सिद्ध है कि यह दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। इस प्रकार वे परस्पर भिन्न होने पर भी ज्ञान द्वारा अभिन्न देख पड़ते हैं अर्थात् सत्व में जो कर्त्तापन का बोध, और पुनः सुख दुःख रूपी ज्ञान, यह दोनों ही एक स्थल में देख पड़ते हैं; कर्त्तापन तो पुरुष-भाव और सुख दुख रूपी ज्ञान है वह भोग कहाता है; परंतु सत्व जड़ है इस कारण उस में स्वार्थ नहीं हो सक्ता, अतएव भोग पदार्थ अर्थात् पुरुष के निमित्त है इस सूक्ष्मभाव में अहंकार त्याग करके जो संयम किया जाता है उससे पुरुष का यथार्थ ज्ञान होसक्ता है।

ततःप्रातिभश्रवणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

इसके अन्तर प्रातिभ अर्थात् बुद्धिवर्द्धनकारी दिव्य-श्रवण, दिव्य-स्पर्श, दिव्यदृष्टि, दिव्यरसज्ञान, और दिव्यगन्ध का ज्ञान उत्पन्न होसक्ता है ॥ ३६ ॥

पूर्व सूत्र में जो सिद्धि का वर्णन कर चुके हैं उसके अनन्तर अब इस सूत्र में महर्षि सूत्रकार आगे के फलों का वर्णन कर रहे हैं। पूर्व सूत्र में कही हुई रीति पर सत्व और पुरुष के अभेद ज्ञान में योगी संयम करता हुआ जब आगे बढ़ता है, तो उस से दिव्य-श्रवण-ज्ञान की पूर्णता, दिव्यस्पर्शज्ञान की पूर्णता, दिव्य-दर्शन ज्ञान की पूर्णता, दिव्यरसज्ञान की पूर्णता और दिव्यगंध-ज्ञान की पूर्णता स्वतः ही प्राप्त होजाती है। अर्थात् योगी इस ही साधन से इन्द्रियगणों की ऐसी-विभूति को प्राप्त कर लेता है।

तेसमाधावुपसर्गाव्युत्थानेसिद्धयः ॥ ३७ ॥

वे सब समाधि के विघ्नकारक हैं, परन्तु चंचल-मति के लिये सिद्धि हैं ॥३७॥

वे सब अर्थात् सब प्रकार की सिद्धियां जो पूर्व सूत्रों में वर्णन कर आये हैं, वे सब सिद्धियां ही योगीगणों को मुक्तिपद प्राप्त करने में विघ्नकारी हैं। चाहे जीवगणों का पार्थिव ऐश्वर्य्य हो, चाहे देवतागणों की दैवी-सिद्धि हो, यह सब ही मायामय प्रकृति की विचित्र लीला है; इसकारण मुक्तिअभिलाषी मुमुक्षुगणों के अर्थ वे अद्वितीय सत् चित् आनन्द रूप मुक्तिपद

के विघ्नकारी ही समझे जावेंगे । परन्तु सब की रुचि कुछ एकसी नहीं होती, और जब तक वासना रहे तब तक उसका पूरा करना भी अवश्य है, इस कारण वे चंचलचित्तयोगी जो बीच में ठहर-कर सिद्धि की अपेक्षा करते रहेंगे, उनके लिये ही दयामय महर्षि सूत्रकारने पूर्वोक्त भेद लिखे हैं । सिद्धियों के विषय में पूज्यपाद महर्षिगण ऐसा कहगये हैं कि योगीगणों की सिद्धि का प्रकाश ऐसा है जैसा कुलकामिनी का अङ्गदर्शन, अर्थात् कुलकामिनीगण स्वेच्छा से कभी अपना अंग परपुरुष को नहीं दिखातीं, परन्तु उनका अंग भी दैवात् कभी कोई देख भी लेता है; इस प्रकार जो योगी सिद्धि प्राप्त करके उनको काम में लाते हैं, वे योगी नहीं हैं भोगी हैं; परन्तु यदि दैवात् कभी कहीं प्रकाशित होजायँ वह दूसरी बात है । तात्पर्य यह है कि मुमुक्षुगणों को कदापि मुंह फेर-कर के भी सिद्धियों की ओर देखना उचित नहीं है ।

बंधकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्चचित्तस्य परशरीरावेशः॥ ३८ ॥

बन्धन का जो कारण है उसके शिथिल होजाने से और प्रवेश और नि-र्गम के ज्ञान से वह पराये शरीर में प्रवेश कर सक्ता है ॥ ३८ ॥

अब महर्षि सूत्रकार और प्रकार की सिद्धियों का वर्णन कर रहे हैं, वे भी सिद्धियां ही हैं ऐसा जानना उचित है। परंतु कुछ विशेष-ता के कारण उनका वर्णन पीछे किया जाता है । चंचलता को प्राप्त हुये अस्थिर मन का शरीर में कर्म्मफल कारण बन्धन है, समाधि प्राप्त होने से क्रमशः स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का

यह बन्धन शिथिल होजाता है। और इसी प्रकार समाधि-अवस्था में स्वतः ही सूक्ष्म शरीर को कहीं पहुंचादेना रूप प्रवेश-क्रिया, और पुनः सूक्ष्म-शरीर को लेआना रूप निर्गम-क्रिया का बोध योगी को होजाता है। तब योगी जब चाहे तब अपने शरीर से निकलकर दूसरे के शरीर में प्रवेश करसक्ता है; जैसे रानी मक्खी जहां जाती है वहां उस के साथ और सब मधुमक्खियां भी चली जाती हैं, वैसेही जीव के दूसरे शरीर में प्रवेश करने से उसके इन्द्रियगण भी उसके साथ रहते हैं। दूसरे के शरीर में जाकर योगी अपने शरीर के समान ही सब व्यवहार करसक्ता है, क्योंकि चित्त और आत्मा व्यापक हैं, जब उनकी भोग-तृष्णा मिटजाती है तब उनको सब स्थानों में ही आनन्द मिलता है; क्योंकि भोग के साधन-कर्म्म शिथिल होगये हैं, इसकारण उनको सर्वत्र स्वतंत्र भाव से सुख की प्राप्ति होसक्ती है। इस प्रकार संयम-क्रिया से बन्धन की शिथिलता होजाने से योगी को परकाया-प्रवेश की शक्ति प्राप्त होजाती है।

उदानजयाज्जलपंककंटकादिष्वसंगउत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

उदानवायु के जीतने से जल, कीचड़ और कंटक आदि शरीर भेदक पदार्थों का स्पर्श नहीं होता; और मृत्यु भी वशीभूत होजाता है ॥३९॥

वायु से ही शरीर की स्थिति है; सम्पूर्ण शरीर और इन्द्रियों में रहनेवाला वायु पांच भाग में विभक्त कियागया है; यथा—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। नासिका द्वारा गति

के विघ्नकारी ही समझे जावेंगे। परन्तु सब की रुचि कुछ एकसी नहीं होती, और जब तक वासना रहे तब तक उसका पूरा करना भी अवश्य है, इस कारण वे चंचलचित्तयोगी जो बीच में ठहरकर सिद्धि की अपेक्षा करते रहेंगे, उनके लिये ही दयामय महर्षि सूत्रकारने पूर्वोक्त भेद लिखे हैं। सिद्धियों के विषय में पूज्यपाद महर्षिगण ऐसा कहगये हैं कि योगीगणों की सिद्धि का प्रकाश ऐसा है जैसा कुलकामिनी का अङ्गदर्शन, अर्थात् कुलकामिनीगण स्वेच्छा से कभी अपना अंग परपुरुष को नहीं दिखातीं, परन्तु उनका अंग भी दैवात् कभी कोई देख भी लेता है; इस प्रकार जो योगी सिद्धि प्राप्त करके उनको काम में लाते हैं, वे योगी नहीं हैं भोगी हैं; परन्तु यदि दैवात् कभी कहीं प्रकाशित होजायँ वह दूसरी वात है। तात्पर्य यह है कि मुमुक्षुगणों को कदापि मुंह फेरकर के भी सिद्धियों की ओर देखना उचित नहीं है।

बंधकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्चचित्तस्य परशरीरावेशः॥ ३८ ॥

बन्धन का जो कारण है उसके शिथिल होजाने से और प्रवेश और निर्गम के ज्ञान से वह पराये शरीर में प्रवेश कर सक्ता है ॥ ३८ ॥

अब महर्षि सूत्रकार और प्रकार की सिद्धियों का वर्णन कर रहे हैं, वे भी सिद्धियां हैं ऐसा जानना उचित है। परंतु कुछ विशेषता के कारण उनका वर्णन पीछे किया जाता है। चंचलता को प्राप्त हुये अस्थिर मन का शरीर में कर्म्मफल कारण बन्धन है, समाधि प्राप्त होने से क्रमशः स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का

यह वन्धन शिथिल होजाता है। और इसी प्रकार समाधि-अवस्था में स्वतः ही सूक्ष्म शरीर को कहीं पहुंचादेना रूप प्रवेश-क्रिया, और पुनः सूक्ष्म-शरीर को लेआना रूप निर्गम-क्रिया का वोध योगी को होजाता है। तव योगी जव चाहे तव अपने शरीर से निकलकर दूसरे के शरीर में प्रवेश करसक्ता है; जैसे रानी मक्खी जहां जाती है वहां उस के साथ और सव मधुमक्खियां भी चली जाती हैं, वैसेही जीव के दूसरे शरीर में प्रवेश करने से उसके इन्द्रियगण भी उसके साथ रहते हैं। दूसरे के शरीर में जाकर योगी अपने शरीर के समान ही सव व्यवहार करसक्ता है, क्योंकि चित्त और आत्मा व्यापक हैं, जव उनकी भोग-तृष्णा मिटजाती है तव उनको सव स्थानों में ही आनन्द मिलता है; क्योंकि भोग के साधन-कर्म्म शिथिल होगये हैं, इसकारण उनको सर्वत्र स्वतंत्र भाव से सुख की प्राप्ति होसक्ती है। इस प्रकार संयम-क्रिया से वन्धन की शिथिलता होजाने से योगी को परकाया-प्रवेश की शक्ति प्राप्त होजाती है।

उदानजयाज्जलपंककंटकादिष्वसंगउत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

उदानवायु के जीतने से जल, कीचड़ और कंटक आदि शरीर भेदक पदार्थों का स्पर्श नहीं होता; और मृत्यु भी वशीभूत होजाता है ॥३९॥

वायु से ही शरीर की स्थिति है; सम्पूर्ण शरीर और इन्द्रियों में रहनेवाला वायु पांच भाग में विभक्त कियागया है; यथा—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। नासिका द्वारा गति

करनेवाला, नासिकामूल से नाभि तक व्यापी जो वायु है उसका नाम प्राणवायु है। नाभि के अधोभाग में, नाभि से लेकर पद के अंगुष्ठतक स्थित-वायु को अपानवायु कहते हैं । यह प्राण और अपान वायु दोनों परस्पर एक दूसरे को खैंचते हुए प्राणक्रिया को चलाया करते हैं। नाभि के चारों ओर दूर तक व्यापक रहकर समता को प्राप्त हुआ जो वायु जीवनी-क्रिया को साम्यावस्था में रखता है, उस वायु को समानवायु कहते हैं। ऊर्द्धगमनकारी कण्ठ से लेकर शिर तक व्यापक जो वायु है वही उदानवायु कहाता है। और समस्त शरीर में व्यापक साधारण-वायु व्यानवायु कहाता है । शास्त्रों में ऐसा वर्णन है कि हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभि में समान, कंठ में उदान और समस्त शरीर में व्यानवायु ढूंढ़ने से तत्काल वे अनुभव होजाते हैं । उदानवायु ऊर्द्धगमनकारी है, इसकारण उस में संयम करने से शरीर जल, पङ्क और कण्टक आदि से नष्ट नहीं होता; अर्थात् इतना हलका रहता है कि न तो जल में डूबता है, न पङ्क में फँसता है, और न कांटे आदि से छिदता है। और उदानवायु को आधीन करने से योगी इच्छा मृत्यु को भी प्राप्त कर सक्ता है ।

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

समान वायु को वश करने से योगी तेजपुंजमय होजाता है ॥ ४० ॥

शारीरिक तेजशक्ति अर्थात् सौदामिनीशक्ति ही जीवनीक्रिया को साम्यावस्था में रखती है; जब समानवायु से भी इस शारीरिक समानता का प्रधान सम्बन्ध है, तब वह तेजशक्ति भी समानवायु के आधीन है ऐसा समझना उचित है। इसकारण

ल्वोक्त समानवायु को संयम द्वारा जीत लेने से योगी तेजपुंजमय होजाता है। जैसे देवता आदिकों के शरीर से तेजोमय किरण प्रकाशित हुआ करते हैं; यदि योगी इच्छा करे तो उस प्रकार के देव तेज को समानवायु के जीतने से प्राप्त कर सक्ता है।

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्य-श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

कर्ण इन्द्रिय और आकाश के सम्बन्ध में सयम करने से दिव्य-श्रवण प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

समस्त प्राणियोंकी कर्णेन्द्रियका आधार आकाश ही है; उसी प्रकार सम्पूर्ण शब्दों का भी आधार आकाश ही है। एक स्थान में शब्द उच्चारित होने से जो वह शब्द दूसरे स्थल में पहुँचता है यह कारण आकाश का ही है, क्योंकि दोनों स्थानों के बीच में आकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; इस कारण शब्द का आधार आकाश है यह सिद्ध हुआ। ऐसा देखने में आता है कि जब तक कर्णेन्द्रिय के संग आकाश का सम्बन्ध रक्खा जाता है तब ही तक शब्द सुनाई दिया करता है, परंतु और किसी प्रकार से वह सम्बन्ध छिन्न कर देने से अर्थात् श्रवण-इन्द्रिय बन्द कर लेने से पुनः शब्द नहीं सुनाई देता; इस से यह प्रमाणित है कि आकाश से श्रवण इन्द्रिय का भी साक्षात्-सम्बन्ध है। और पूर्वोक्त कारण से आकाश का आवरण रहितत्व भी सिद्ध होता है, और जो पदार्थ रूप-रहित है उस आकाश का सर्व्वव्यापी होना भी चिरप्रसिद्ध है, इसकारण कर्णेन्द्रिय और आकाश का

जो संबन्ध है उसमें संयम करने से योगी दिव्य-श्रवण शक्ति को प्राप्त होता है; अर्थात् तव वह सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म, छिपे हुए से अति छिपेहुए, दूरवर्ती से अति दूरवर्ती, और नानाप्रकार के दिव्यशब्दों को श्रवण कर सक्ता है ॥

कायाकाशयोस्सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

शरीर और आकाश के सबन्ध में सयम करने से और लघु अर्थात् रुई आदि पदार्थ के ज्ञान से आकाश में गमन करसक्ता है ॥ ४२ ॥

जहां जहां शरीर जाता है वहां वहां सर्व्वव्यापी आकाश का होना सिद्ध ही है; और आकाश इस चलने फिरने रूप क्रिया में अवकाश देनेवाला है, अर्थात् आकाश और शरीर का आधार और आधेय रूप से सम्बन्ध है; और आकाश ही सब भूतों से हलका और सर्व्वव्यापी है, इस कारण योगी जब आकाश और शरीर के सम्बन्ध में संयम करता है और उस समय लघुता के विचार से रुई आदि हलके से हलके पदार्थों की धारणा भी रखता है, तो इस क्रिया से उस में हलकेपन की सिद्धि होजाती है; अर्थात् योगी तब जहां चाहे तहां ठहर सक्ता है; आकाश पथ में जहां चाहे तहां भ्रमण कर सक्ता है । इस ही सिद्धि द्वारा महात्मागण आकाश में विचरण करते हुए एक स्थान से स्थानान्तर में भ्रमण किया करते हैं ।

वहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहाततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

शरीर से बाहिर जो मन की स्वाभाविक वृत्ति है, उसका नाम महाविदेह-वृत्ति है; उसके प्रकाश से आवरण का नाश होजाता है ॥४३॥

शरीर से बाहिर, शरीर के आश्रय की अपेक्षा न रखनेवाली जो मन की वृत्ति है, उसे महाविदेह कहते हैं; क्योंकि उस से अहंकार का वेग दूर होजाता है। उस वृत्ति में जो योगी संयम करता है उस संयम से प्रकाश का ढकना दूर होजाता है; अर्थात् सात्विक अन्तःकरण को ढकनेवाला अविद्या आदि कर्म्म और क्लेश तब नाश होजाता है। इस से अभिप्राय यह है कि जब तक शरीर का अहंकार रहता है तब तक मन की बाह्यवृत्ति रहती है; परन्तु जब शारीरिक अहंकार को त्याग कर स्वतंत्र भाव से मन की वृत्ति बाहर रहती है, तब ही योगी का अन्तःकरण मल रहित और निस्संग रहता है। अर्थात् शरीर से लगी हुई मन की जो बाह्यवृत्ति है उसका नाम कल्पिता है; परन्तु शरीर की अपेक्षा न रखकर देहाध्यास से रहित जो मन की बाह्यवृत्ति है, वह अकल्पित कहाती है; उन दोनों वृत्तियों में से कल्पितवृत्ति द्वारा अकल्पित महाविदेह वृत्ति का साधन किया जाता है, जिसके सिद्ध होने पर प्रकाशस्वरूप जो बुद्धि है उस का पूर्ण प्रकाश होजाता है। इस समय में अहंकार से उत्पन्न हुआ क्लेश, कर्म्म और कर्म्म का फल इन सब बन्धनों से साधक मुक्त होजाता है; तमोगुण और रजोगुण से उत्पन्न हुए सब आवरण तब जाते रहते हैं। यह उन्नत-अवस्था है।

पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार ने सिद्धि समूहों को तीन भाग में विभक्त किया है। प्रथम प्रकार की सिद्धियों को पूर्व्वही भलीभांति वर्णन करके, पुनः सिद्धियों में योगी को फँसने का निषेध करके

तद्पश्चात् मध्यम सिद्धियों का वर्णन किया है। अब आगे उत्तम समाधि-सिद्धियों का विविध उपाय वर्णन करेंगे।

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयमा द्भूतजयः ॥ ४४ ॥

पञ्चतत्वों के स्थूल सूक्ष्मरूप अर्थात् गुण, स्वरूप तथा तन्मात्रा में संयम करने से भूतों पर जय लाभ होता है ॥ ४४ ॥

सृष्टिप्रकाशिनी अनादि कारण रूप प्रकृति का विस्तार पञ्चभूत है; इन पञ्चभूतों के सम्बन्ध और विस्तार से ही यावन्मात्र सृष्टि है; इसकारण इन पांचों के जय से प्रकृति का जय होता है। यदि सूक्ष्म विचार करें तो पांचभौतिक सृष्टि को पांच भाग में विभक्त करसक्ते हैं। भूतों की एक स्थूल-अवस्था वह है कि जो दृष्टिगोचर हुआ करती है; दूसरी अवस्था वह है जो स्थूल में गुणरूप से अदृष्ट हो, यथा ऊष्णता तेज में; तीसरी अवस्था तन्मात्राओं की है; चतुर्थ अवस्था व्यापक सत्व, रज और तमोगुण की है; और पञ्चम अवस्था फलदायक होती है। इसको और प्रकार से समझा जाय कि पृथ्वी आदि स्थूलभूत जो अनुभव में आवें यथा स्थूल-पृथ्वी, यह प्रथम अवस्था है; द्वितीय जैसे ऊष्णता से तेज अनुभव किया जाता है, यह दूसरी अवस्था है, भूतों की सूक्ष्म अवस्था अर्थात् पञ्चतन्मात्रा, जैसे शब्द से आकाश का अनुभव करना, यह तीसरी अवस्था है; तत्वों की ख्याति प्रकाश-क्रिया और स्थिति स्वभाववाले जो गुण हैं, वह अति सूक्ष्म अवस्था चतुर्थ अवस्था है, और पञ्चभूतों की सूक्ष्म से

शरीर को चाहे जितना-बढ़ासके । गरिमा सिद्धि वह कहाती है कि योगी इच्छा करते ही अपने शरीर को चाहे जितना भारी से भारी करसके। प्राप्ति सिद्धि वह कहाती है कि योगी इच्छा करते ही एक लोक से लोकान्तर में अर्थात् चाहे किसी ग्रह, किसी उपग्रह, किसी सूर्य्य अथवा किसी महासूर्य्य में जहां चाहे तहां पहुंच सके। प्राकाम्य सिद्धि यह कहाती है कि जब योगी जिस किसी पदार्थ की इच्छा करे तब ही वह पदार्थ उसको प्राप्त होजाय; अर्थात् त्रिलोक में उसका अप्राप्त कोई भी पदार्थ न रहे । वशित्व-सिद्धि वह कहाती है कि जिस से योगी के वश में समस्त पंचभूत और समस्त भौतिक पदार्थ आजाते हैं, और वह जैसे चाहता है वैसेही पंचभूतों से काम लेसक्ता है, परन्तु वह स्वयं किसी के भी वश में नहीं आता। और ईशित्व सिद्धि वह कहाती है कि जब योगी भूत और भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने की शक्ति को प्राप्त होजाता है; अर्थात् यदि वह नवीन सृष्टि कुछ करना चाहे सो भी कर सक्ता है। यही आठों प्रकारकी सिद्धियां अष्ट सिद्धि कहातीहैः यह सिद्धियां ईश्वर की सिद्धि हैं; जब योगी ईश्वर रूप होजाता है तब ही ईश्वर कृपा से उसको इन आठ सिद्धियों की प्राप्ति होती है । यह सिद्धियां सब प्रकार की पूर्व्व कथित-सिद्धियों से श्रेष्ठ हैं । यदि ऐसा सन्देह हो कि योगी ऐसी सिद्धियों को प्राप्त करके क्या दूसरा ईश्वर बनजाता है? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि योगी तब दूसरा ईश्वर नहीं बनता, परंतु ईश्वरमें तद्गत होके मिलजाता है, जब योगी ईश्वर में मिले रहते हैं तो ईश्वर-इच्छा अथवा ईश्वर नियम के विरुद्ध वे कुछ काम करते ही नहीं; उनकी ऐसी विभूति द्वारा

यदि कोई काम होता भी है तो वह रेख पर मेख की नाई ईश्वर-नियम अथवा आज्ञा के अनुकूल ही होता है। परन्तु इन सिद्धियों के प्राप्त करने से योगी सब कुछ कर सक्ता है, अर्थात् कठिन से कठिन पाषाण में भी प्रवेश करसक्ता है, और आवरण रहित आकाश में भी छिप सक्ता है; और सब पंचभूतों में से कोई भूत भी उसको कुछ क्लेश नहीं देसक्ता; जैसे प्रभु रूप से प्रकृति माता परम पिता ईश्वर की सदा सेवा किया करती हैं, वैसे ही ऐशी-अधिकार को प्राप्त होने से प्रकृति माता तव स्नेहमयी जननी की नाईं उस योगी की भी सदा सेवा करती रहती हैं।

रूपलावण्यबलवज्रसंहतत्वानिकाय सम्पत् ॥ ४६ ॥

तब रूपलावण्य, बल, वज्र सहन-शक्ति, आदि काय सम्पत्ति प्राप्त होती हैं ॥ ४६ ॥

भूतों के जय करने से योगी प्रकृति मुक्त होकर प्रकृति के जय से जिस अद्भुत ऐशी-शक्ति अर्थात् अन्तःकरण के बल को प्राप्त करता है उसका वर्णन पूर्व्व सूत्र में भली भांति आचुका है; अब महर्षि सूत्रकार पंचभूतों के जय करने से योगी को जो शरीर की विशेष योग्यता आपहीआप प्राप्त होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। रूपलावण्यता उसे कहते हैं कि यह स्थूल शरीर ऐसी दिव्य सुन्दरता को धारण करे कि तब उस शरीर के रूप की मधुरता से सब प्रकार के दर्शक ही मोहित होजावें; चाहे दर्शक देवता हो चाहे मानव, चाहे पशु हो चाहे और जीव, सब

ही उस मूर्त्ति को देखते ही मोहित होजायँ । वल से यही तात्पर्य्य है कि तव योगी परमवलशाली होजाता है; जब उसके वल से प्रकृति ही वशीभूत होजाती है तो उस वल की और क्या तुलना होसक्ती है । वज्रसहनशक्ति से यही तात्पर्य्य है कि सव शस्त्रों से महातीव्र वज्र भी उस शरीर को भेदन नहीं कर सक्ता। इस प्रकार योगी तव दिव्यशरीर को प्राप्त होजाता है।

ग्रहणस्वरूपाऽस्मिताऽन्वयार्थवत्वसंयमा-दिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्व इन में संयम करने से इन्द्रियों का जय होता है ॥ ४७ ॥

सामान्य और विशेष रूप से शब्दादि जितने विषय हैं, वह वहिर्विषय सव ग्राह्य कहाते हैं; उन ग्राह्य विषयों में जो इन्द्रियों की वृत्ति जाती है उस वृत्ति को ग्रहण कहते हैं । किसी रीति से विना विचारे विषय जव अकस्मात् ग्रहीत होजाते हैं, तव मन का उस में प्रथम विचार ही स्वरूप वृत्ति कहाता है। उस अवस्था में जो अहंकार का सम्नन्ध रहता है, वह अहंकार-मिश्रितभाव अस्मिता-वृत्ति कहाता है। पुन वुद्धि द्वारा उस स्वरूप के विचार को अर्थात् जव वुद्धि सत् असत्, सामान्य और विशेष का विचार करने लगती है उस वृत्ति को अन्वय कहते हैं। नाना विषयों को प्रकाश करनेवाली, स्थिति शील, अहंकार के साथ सव इन्द्रियों में व्यापक, वहकी हुई जो वृत्ति है वही पञ्चम वृत्ति अर्थवत्व वृत्ति कहाती है। इन इन्द्रियों की पांचों वृत्तियों में संयम करके इनको

अपने आधीन लेआने में इन्द्रियगणों का पूर्ण जय होता है; पूर्व्व जो इन्द्रियजय का विषय आचुका है यह उस रीति पर नहीं हैं; पूर्व्व जो वर्णन हुआ है वह इन्द्रियदमन सामान्य है; परंतु अब इस रीति से जो सिद्धि की प्राप्ति होती है वह विलक्षण ही होती है; अर्थात् अब योगी को कोई विषय भी विचलित नहीं कर सक्के, और वह जितेन्द्रियता की पूर्णावस्था को प्राप्त कर लेता है।

ततोमनोजवित्वविकरणभावःप्रधान जयश्च ॥ ४८ ॥

इद्रियजय के अनन्तर उत्तम गति को प्राप्त करके अनुकूल-वृत्ति की प्राप्ति से प्रधान का जय होता है ॥ ४८ ॥

मन की गति के समान शरीर की उत्तमगति की प्राप्ति को मनोजवित्व कहते हैं। शरीर के सम्बन्ध को त्याग करके जो इन्द्रियों की वृत्ति का प्राप्त करना है उस को विकरणभाव कहते हैं। प्रकृति के विकारों के मूलकारण को जय करने का नाम प्रधान-जयत्व है। इस प्रकार मनोजवित्व से विकरणभाव और पुनः इन दोनों से प्रधान को जय करके योगी पूर्णरूपेण सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है; यह अवस्था मधुमतीक कहाती है; मधु मीठा होता है, और यह सिद्धियां भी मीठी लगती हैं, इस कारण सिद्धि की पूर्णावस्था का नाम मधुमतीक है।

सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्यसर्वभावा धिष्ठातृत्वंसर्वज्ञातृत्वञ्च ॥ ४९ ॥

सत्व रूप बुद्धि निर्मल होजाने से परमेश्वर के चिन्तन ही में लगे रहने के अर्थ

जितने गुण की आवश्यक्ता है वह सब योगी को प्राप्त होजाता है, और सब विषयों का यथार्थ ज्ञान होने लगता है ॥ ४९ ॥

पूर्व्व सूत्रों में सिद्धियों का वर्णन करके अब महर्षि सूत्रकार यह वर्णन कर रहे हैं कि क्रमशः अन्तःकरण की ऐसी स्वच्छ अवस्था होजाती है कि तब आपहीआप परमात्मा का निर्म्मल प्रकाश उस में प्रकाशित होने लगता है। जो कुछ सिद्धियां हैं वे सब ही मार्ग चलनेवाले पथिक के भुलानेवाली पथ के दोनों ओर की उत्तम उत्तम भोग वस्तु हैं; यदि साधक पथिक तीव्र-वैराग्य से युक्त होकर मन की दृढ़ता के कारण उस भ्रमकारी-पथ के दोनों ओर बिखरे हुए ऐश्वर्य्यों की ओर मुहँ फेर के भी नहीं देखता है तो वह आपहीआप ऐसे शांतिमय स्थान में पहुंच जाता है जहां उसकी सब मनोवासनाऐं स्वतःही पूर्ण होजाती हैं; और वह भगवत्-दर्शन करने में समर्थ होजाता है। इस प्रकार जब सत्वगुण के प्रभाव से तम और रजोगुण-रूपी-मल धुल जाता है तो आपहीआप अन्तःकरण स्वच्छता को प्राप्त होजाता है; और तबही उस अन्तःकरण में ऋतम्भरा नामक पूर्णज्ञानमय बुद्धि का उदय होता है। मल के कारण ही अन्तःकरण भगवत्-साक्षात्कार नहीं करसक्ता था; अब जब मल रहा ही नहीं तब अन्तःकरण स्वतःही भगवत्-दर्शन में समर्थ होजाता है। योगी की इस अवस्था का नाम विशोक अर्थात् शोकरहित अवस्था है।

तद्वैराग्यादऽपिदोषबीजक्षयेकैवल्यम् ॥५०॥

उक्त सिद्धियों में वैराग्य रहने के कारण दोषों के बीज नाश होजाने से कैवल्य की प्राप्ति होती है ॥ ५० ॥

साधन और वैराग्य रूपी दोनों परों से उड़ता हुआ साधक जब विशोक-अवस्था में पहुंचकर आतमदर्शन करने में समर्थ होजाता है, और तीव्र वैराग्ययुक्त होने के कारण पथ में कहीं भी नहीं फँसता है, तब शनैः शनैः वह भगवत्-साक्षात्कार से भगवत्-कृपा का अधिकारी होकर मुक्ति रूपी कैवल्यपद में पहुंच जाता है। जब योगी पूर्व्वोक्त अवस्था को प्राप्त करके क्लेश रूपी कर्म्मों से अलग होजाता है, और पूर्ण-सत्व-रूपी अभ्रांत-बुद्धि को प्राप्त करके जीव-अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुंच जाता है, तब उसका अन्तःकरण संकल्प विकल्प से रहित होकर पूर्णानन्द को प्राप्त होजाता है; और तब वह पुनः आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक रूपी त्रिताप में फँसता ही नहीं; तब ही परम कल्याण रूपी कैवल्यपद की प्राप्ति होती है। साधक तीन प्रकार के हुआ करते हैं यथा- उत्तम, मध्यम और अधम। अधम साधक वह हैं कि जो साधन-पथ में चलते२ सिद्धियों को भोग करने लगते हैं; मध्यम साधक वह हैं कि जो सिद्धियों को देखते हैं परन्तु भोग नहीं करते, और वैराग्य-बुद्धि द्वारा उनसे बचते जाते हैं; परन्तु उत्तम साधक वही कहाते हैं कि जो सिद्धियों की ओर नेत्र फेर कर भी नहीं देखते। इसीकारण परावैराग्ययुक्त उत्तम साधक ही मुक्तिपद के यथार्थ अधिकारी हैं; उनहीं को कैवल्य पद की प्राप्ति शीघ्र हुआ करती है।

स्थान्युपनिमन्त्रणेसंगस्मयाकरणपुनि रनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

योग भूमियों में स्थिर न होने से योगी को फिर भी अनिष्ट की प्राप्ति होती है ॥ ५१ ॥

योगी चार प्रकार के होते हैं यथा—कल्पिक, मधुप्रतीक, भूतेन्द्रियजयी और अतिक्रान्तभावनीय । प्रथम जब योगी अष्टांग-योगसाधन से आगे बढने लगते हैं, उस अवस्था का नाम कल्पित है; जब ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त कर लेते हैं, तब उनकी अवस्था का नाम मधुप्रतीक है; जब भूतों पर पूर्ण अधिकार होजाता है, तब उनका नाम भूतेन्द्रियजयी है; और जब योग की पूर्णावस्था को प्राप्त करके कैवल्य भूमि में पहुंच जाते हैं, तब उनकी अवस्था का नाम अतिक्रान्तभावनीय है । इस चौथी अवस्था की सात भूमिका हैं । योगी को विघ्नों का डर तो प्रथम से ही है, इसकारण विना वैराग्य के साधन चल ही नहीं सक्ता, परन्तु इस चौथी अवस्था की सात भूमियों में योगी को और भी विशेष डर है, शास्त्रों में ऐसा लेख है कि इस समय में देवतागण योगी के सन्मुख आय कर नाना प्रकार के दिव्य-पदार्थ, नाना प्रकार की भोग्य वस्तुएँ मनोहर स्त्रियां, मनोहर स्थान, मनोहर पदार्थ और अनेक सिद्ध-औषधियां आदि प्रदान द्वारा उनको अपने में मिलाना चाहते हैं; यदि इस समय योगी फसजाय तो पुनः उसकी अधोगति होती है, नहीं तो परावैराग्ययुक्त योगी सातों भूमियों को अतिक्रम करते हुए कैवल्यपद को प्राप्त करके मुक्त होजाता है ।

क्षणतत्क्रमयोःसंयमाद्विवेकजंज्ञानम् ॥ ५२ ॥

जितने काल में एक परमाणु पल्टा खाता है उसको क्षण कहते हैं, और उसके द्वितीय परमाणु से सयोग को क्रम कहते हैं; उनमें सयम करने से विवेक अर्थात् अनुभवसिद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

द्रव्य जब घटते घटते ऐसी सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होजाय कि

उससे और सूक्ष्म न होसके तो उस अवस्था का नाम परमाणु है; अर्थात् भौतिक-पदार्थ के सूक्ष्मातिसूक्ष्मभाग को परमाणु कहते हैं। उसी प्रकार कम से कम कालभाग को अर्थात् जिस काल से कम भाग में काल विभक्त न होसके, उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म-कालभाग को क्षण कहते हैं। यहां क्षण से महर्षि सूत्रकार का यही तात्पर्य्य है कि जितने कालमें एक परमाणु पूर्वस्थान को त्याग के अगले स्थान को प्राप्त करता है वही सूक्ष्मातिसूक्ष्म-काल की अवस्था क्षण कहाती है। और उन परमाणुओं की गति अर्थात् प्रवाह का जो रूप है उसको क्रम कहते हैं। क्षण और उसके क्रम का एकत्रित होना असम्भव है, परंतु क्षणादि व्यवहारवाली बुद्धि ही अपनी स्थिरता से मुहूर्त, दिन, रात्रि और वर्ष आदि कालज्ञान की व्यवस्था करती है; इस कारण यह काल यथार्थ में वस्तु शून्य द्रव्य है, और केवल बुद्धिका परिणाम मात्र है। शब्द-ज्ञान से ही वह काल सांसारिक मनुष्यों को वस्तु शून्य होने पर भी वस्तु के समान जान पड़ता है; परंतु योगीगण उसको और ही प्रकार से देखते हैं। क्रम क्षण से ही जाना जाता है, उस ही को कालज्ञ-योगी काल कहते हैं; यथार्थ में काल एक ही है, क्योंकि वर्त्तमान् क्षण के पूर्व- क्षण और उत्तर-क्षण दोनों इस वर्त्तमान क्षण के पूर्व उत्तर भेद ही हैं; अथवा यों कहसक्ते हैं कि भूत-क्षण का परिणाम वर्त्तमान्-क्षण है, और वर्त्तमान-क्षण का परिणाम भविष्यत्-क्षण होगा; इस से तीनों ही एक हैं और एक ही तीनों हैं। इस विचार से सब काल एक ही क्षण का परिणाम है; इस विचार से ही समस्त ब्रह्मांड समूह की सृष्टि क्रिया एक ही क्षण का परिणाम है। इस प्रकार की योग बुद्धि द्वारा क्षण और

क्रम में संयम करके उनके साक्षात् ज्ञान-लाभ करने से विवेक-रूपी अभ्रान्त, पूर्ण और सर्वव्यापक ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस अभ्रान्त और पूर्णज्ञान के उदय होने से सन्देह शब्द का लोप योगी के अन्तःकरण से होजाता है, अर्थात् तब योगी जिस विषय में देखता है उस का ही यथार्थ और पूर्ण रूप देखलेता है; जहां तक योगी ज्ञान-दृष्टि फैलाता है वहीं तक उस की अभ्रान्त-बुद्धि देश काल से अपरिच्छिन्न हो पहुंच जाती है, योगी की यह अवस्था ही त्रिकालदर्शी- अवस्था है।

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययो स्ततःप्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

समान पदार्थों में जाति, लक्षण और देश से एक दूसरे की भिन्नता निश्चय नहीं होती परन्तु उस में संयम करने से विशेषज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ५३ ॥

पदार्थों के भेद के हेतु जाति, लक्षण और देश हैं; अर्थात् इन तीनों सेही पदार्थों में भेद जाना जाता है। कहीं जाति से भेद जानपड़ता है,जैसे गो और महिष, अर्थात् गो और महिष कहने से गोत्व और महिषत्व रूप जातिभेद से पदार्थों का भेद समझागया। कहा लक्षणभेद से भेद जान पड़ता है, जैसे दो गाभियों में लक्षणविभाग से एक गाभि कृष्ण और दूसरी रक्त समझीगई; दोनों गाभिही हैं,परन्तु लक्षणभेद से दो स्वतंत्र पदार्थों का अनुभव हुआ। और कहीं देशभेद से वस्तुभेद का अनुभव होता है, जैसे दो पदार्थों में जाति और लक्षण की एकता पाई जाने परभी जो अनैक्य-

ता हो वह देश से ही होती है; जैसे समान प्रमाण वाले दो आँवलों का भेद केवल स्थल-विशेष से होता है। परन्तु एक देश में जब दो परमाणु एकही जाति और एकही लक्षणयुक्त रहते हैं तब उन में भेदज्ञान होना कठिन है; किन्तु जब इस प्रकार भेदज्ञान से उन में संयम किया जाय तो उस संयम द्वारा पूर्ण-भेदज्ञान की प्राप्ति होसक्ती है। अर्थात् इस रीति से भेदों में संयम करने से योगी तत्त्वों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों को भी पूर्णरूपेण जान सकेगा। सूक्ष्म-तत्त्वों में जो ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसकी विशेष संज्ञा आगे वर्णन की जायगी।

तारकंसर्वविषयंसर्वथाविषयमक्रमंचेति विवेकजंज्ञानम् ॥ ५४ ॥

तारक अर्थात् विवेकज्ञान, जिसके सन्मुख कोई भी विषय छिप न सकें, और भूत, भविष्यत् और वर्तमान क्रम को विदित करनेवाला यह विवेकजज्ञान कहलाता है ॥ ५४ ॥

तारक उसे कहते हैं जो अपनी प्रतिभा अर्थात् बुद्धि से उत्पन्न हो; इस से यही तात्पर्य्य है कि जो ज्ञान बिना किसी के उपदेश से स्वाभाविक रीति पर प्रकाशित होजाता है, वही तारक ज्ञान कहाता है। जब तक जीव-संज्ञा रहती है तब तक उसमें अल्पज्ञता रहने के कारण बिना गुरु-उपदेश के जीव ज्ञान-मार्ग में आगे बढ़ ही नहीं सक्ता; परंतु जब साधन से योगी इस पूर्वोक्त पूर्ण-अवस्था को पहुंचजाता है, तब बिना किसी की सहायता से ही भगवत्-प्रकाश का पूर्ण प्रकाश उसके अन्तःकरण में स्वतः

ही प्रकाशित होने लगता है, वह पूर्ण, स्वयम्भू ऐसा ज्ञान ही तारक कहाता है । वह तारक-ज्ञान सब विषयों का अर्थ रूप है अर्थात् उस ज्ञान से कोई विषय भी छूटा नहीं रह सक्ता । अक्रम का अर्थ यह है कि पूर्वोक्त एक क्षण में जितने पदार्थों का कार्य्य जगत् में हो सकता है उन सब को ही योगी पूर्णरूपेण जान सक्ता है; अर्थात् भूतकाल में जो कुछ हुआथा, वर्त्तमान् काल में जो कुछ हो रहा है, और भविष्यत् काल में जो कुछ होगा, वह सब ही योगी तब जान सकेगा । इस ही ज्ञान को प्राप्त करके त्रिकाल-दर्शी महर्षिगण वेद का संग्रह और विभाग कर गये हैं; इस ही ज्ञान को प्राप्त करके वे पूज्यपादगण दर्शन, उपवेद, स्मृति, पुराण और तन्त्र आदि नाना शास्त्र अपनी अपनी रीति और लक्ष के अनुसार जीवगणों के उपकारार्थ प्रणयन करगये हैं । वह पूर्णज्ञान ही निस्सहाय जीव को अपार संसार सागर से तार कर भगवत्-पद में पहुंचा देता है; इसकारण उस ज्ञान का नाम तारक है ।

सत्वपुरुषयोःशुद्धिसाम्येकैवल्यमिति ॥ ५५ ॥

बुद्धि और पुरुष, दोनों ही जब शुद्धता में समान होजाते हैं तब मोक्षपद की प्राप्ति होती है ॥ ९२ ॥

पूर्वोक्त तारक बुद्धि के प्राप्त करने से जिस फल की प्राप्ति होती है उसका ही वर्णन अब महर्षि सूत्रकार कर रहे हैं । जब सत्वगुण के प्रबल प्रवाह से रजोगुण और तमोगुण का मल पूर्ण-रूपेण धुलजाता है; और उनके नाम मात्र भी न रहने से बुद्धि पूर्ण निर्मल होजाती है; तब पुरुष से भिन्न जो कुछ अधिकार

था वह सब ही लय को प्राप्त होजाता है; और तब ही पुरुष अपने यथार्थ रूप को प्राप्त होजाता है। पुरुष में जो भोग का अभाव है वही पुरुष की मुक्त-अवस्था है; भोग के अभाव होने से पुरुष अब मुक्त होजाता है; इस अवस्था में द्वैत का भान मात्र नहीं रहता, जो कुछ रहता है वह एक ही एक रहजाता है; जब द्वैत नहीं रहा तो विषय का भान भी नहीं रहता; जब विषय-निवृत्ति होजाती है तो सब क्लेशों का स्वतःही लय होजाता है; क्लेशों के लय होने से कर्म्म और कर्म्म-फल भी निवृत्त होजाते हैं; तब एक ही मात्र पुरुष रहजाते हैं। पुरुष की इस अवस्था का नाम कैवल्य है; वह कैवल्यपद ही योग साधन का लक्ष है; यही परम-पुरुषार्थ का परमफल है। इस कैवल्यपद का विस्तारित विवरण अगले पाद में किया जावेगा।

इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे

विभूतिपाद । तृतीयः।

इति महर्षि पतञ्जलि मुनि कृत योगसूत्र के विभूति

नामक तृतीय पाद का निगमागमी नामक

भाषाभाष्य समाप्त हुआ।

चतुर्थपादः ।

जन्मौषधिमंत्रतपस्समाधिजाःसिद्धयः ॥१॥

सिद्धि जन्म से, औषधि से, मंत्र से, तप से और समाधि से उत्पन्न होती है ॥ १ ॥

पूर्व पाद में नाना प्रकार की सिद्धियों का वर्णन किया गया है, यदिच वे योगीगणों को मुक्तिपद की ओर चलते हुए पथ में मिला करती हैं, तत्रच जितने प्रकारों से सिद्धियों की प्राप्ति होसक्ती है उनका विस्तारित विवरण अब महर्षि सूत्रकार कर रहे हैं । सिद्धि जन्म से भी उत्पन्न होती है, जैसे परमहंस शुकदेव और महर्षि कपिल आदियों में सिद्धि जन्म से ही उत्पन्न हुई थीं । औषधि द्वारा भी सिद्धि उत्पन्न होती हैं, जैसे रसायन आदिक औषधियोंसे तावे का सुवर्ण वना लेना, और कल्प आदि औषधियों द्वारा जरा नाश करके दीर्घ आयुवाला वन जाना इत्यादि । मंत्रों से भी सिद्धि की प्राप्ति हुआ करती है, जैसे गुटिका सिद्धि द्वारा आकाश गमन करना, और तान्त्रिक मंत्र साधन द्वारा मारण, वशीकरण, उच्चाटन आदि कार्य्य करना इत्यादि । तप द्वारा भी सिद्धि की प्राप्ति हुआ करती है, जैसे तप साधन द्वारा महर्षि विश्वामित्र का क्षत्रिय से ब्राह्मण वन जाना, और भक्त-प्रधान नन्दिकेश्वर का मनुष्य से देवता वन जाना इत्यादि । और समाधि से जो सब प्रकार की सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है, उसका विस्ता-

रित विवरण तो तृतीयपाद में आही चुका है। चाहे सिद्धि जन्म से प्राप्त हो, चाहे औषधि से हो, चाहे मंत्र से हो, और चाहे तप से हो, यह सब सिद्धियां समाधि सिद्धि से नीचे हैं; और ऐसा भी कह सक्ते हैं कि उन सबों का पूर्व्व अथवा सहायकारी साधन समाधि ही है। जन्म से जो सिद्धि प्राप्त होती है उसका पूर्व्व-कारण समाधि-साधन ही होता है, क्योंकि शुकदेव आदि का पूर्व्व साधन किया हुआ था इसकारण उन्हें वर्त्तमान् जन्म में सिद्धि स्वतःही प्राप्त हुई थी। उसी प्रकार औषधि आदि द्रव्ययोग से जो सिद्धि होती है, उस से भी शरीर ऐसा उपयोगी होजाता है कि जैसा उस सिद्धि के लिये समाधि द्वारा होता। वैसे ही मंत्र और तप सिद्धि को भी समझना उचित है; क्योंकि मंत्र और तप-साधन द्वारा भी शनैः शनैः साधक का शरीर और मन ऐसा उपयोगी होजाता है जैसा उस क्रिया के लिये समाधि द्वारा होना उचित था। कुछ ही हो सिद्धि सिद्धि ही हैं; मुमुक्षुगणों को उन पर ध्यान देना उचित नहीं है।

तत्रकायेन्द्रियाणामन्यजातीयपरिणतानांजात्यन्तरपरिणामःप्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

उन में शरीर और इन्द्रियों का दूसरा परिणाम प्रकृति के कारण प्राप्त हुआ करता है ॥ २ ॥

जिन सिद्धियों का विस्तारित विवरण पूर्व्व आचुका है उन में जो परिवर्त्तन होता है यदि उन परिवर्त्तनों के कारण कोई ऐसा प्रश्न करे कि प्रकृति में कैसे उस प्रकार का परिवर्त्तन स

म्भव होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि सूत्रकार कह रहे
कि वह सब प्रकृति के परिणाम से ही हुआ करता है; जब
ति में परिणाम होगा तो शरीर और इन्द्रियों में भी अवश्य
जब एक जन्म से जन्मांतर की प्राप्ति होती है तब एक प्रकृति
दूसरी प्रकृति का परिवर्त्तन हुआ ही करता है, अर्थात् एक
प्रथम जन्म में मनुष्य था परन्तु अब दूसरे जन्म में वह दे
हुआ, तो उस के इस जन्म-परिवर्त्तन से मनुष्य प्रकृति का परि
वर्त्तन होकर देव-प्रकृति में प्राप्त होगया; इस कारण जन्म
प्रकृति का परिवर्त्तन तो सिद्धि ही है। जैसे एक प्रकृति के
से दूसरी प्रकृति बदल जाती है, जैसे विष के प्रयोग से
शरीर गल कर नाश होजाता है, उसी प्रकार से द्रव्ययोग
औषधि द्वारा मनुष्य एक प्रकृति को दूसरी प्रकृति में
सिद्धि प्राप्त कर सकता है। मंत्र और तपःसाधन द्वारा प्रकृति
आधिपत्य करके अथवा समाधि-साधन द्वारा प्रकृति पर आधिपत्य
करके कैसे एक प्रकृति दूसरी प्रकृति में बदली जासक्ती है
प्रमाण सहज ही है, और इसका विवरण पूर्व्व में भी बहुत
आचुका है। इस कारण सब प्रकार की सिद्धियां ही प्रकृति के
द्वारा उसके परिणाम से ही उत्पन्न होती हैं।

निमित्तमप्रयोजकंप्रकृतीनांवरणभेदस्तुततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

प्रकृतियों का प्रयोजक धर्म्मादि नहीं है; वर्ण का भेद कृषान के समान होता है ॥ ३ ॥

पूर्व्व-सूत्र में यह प्रमाणित होचुका है कि सिद्धि द्वारा जो

अब यदि ऐसा प्रश्न हो कि जब योगी को तत्त्वों का साक्षात् ज्ञान होजाता है तब कई कर्म्मों का एकही समय फल भोगने के लिये यदि वे अपनी सिद्धियों को प्रकाश करके एकही समय में अनेक शरीर धारण करने की इच्छा करें तो उनका एक करण अनेक अन्तःकरण कैसे होजायगा ? इस प्रश्न के उत्त में महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि केवल अस्मिता ही अन्तःकरण कारण को धारण करके अन्तःकरण उत्पन्न किया करती अर्थात् अस्मिता से ही प्राणी अन्तःकरणयुक्त होजाता है। इस कारण से जैसे एक अग्निशिखा द्वारा अनेक अग्निशिखाएँ उत्प होसक्ती हैं वैसे ही एक अन्तःकरण द्वारा योगबल से अनेक अन्तः करण भी होसके हैं; जब योगी महत्तत्व पर अधिकार जमा लेते हैं तो स्वतःही वे जितने अन्तःकरण चाहें उतने ही अन्तःकरणों की भी सृष्टि कर सके हैं; नाना प्रकार के शरीर धारण करना तो प्रमाणित ही था, अब इस सूत्र द्वारा इतना और प्रमाणित हुआ कि अन्तःकरण भी जितने चाहें उतने उत्पन्न कर सकेंगे।

प्रवृत्तिभेदेप्रयोजकंचित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

प्रवृत्ति के भेद से एकही चित्त अनेक चित्तों का प्रयोजक होता है॥५॥

जब एक योगी की सिद्धि द्वारा अनेक प्राणी हुए और उन प्राणियों में अनेक अन्तःकरण भी हुए; तो यह प्रश्न होसक्ता कि उन सब अन्तःकरणों के कार्य्य करने के लिये या तो सब स्वतन्त्र २ संस्कार हों अथवा योगी ही और किसी प्रकार से प्रेरणा सम्पादन करता हो ? ऐसे प्रश्नों के उत्तर में महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि नये अन्तःकरणों में स्वतन्त्र स्वतन्त्र संस्कार

को होना असम्भव है; परन्तु एकही अन्तःकरण अनेक अन्तः-
करणों का प्रयोजक होसक्ता है; अर्थात् सब अन्तःकरणों का
अधिष्ठाता योगी का अन्तःकरण ही है, तो जैसे योगी की शक्ति
से ही जब अनेक इन्द्रिय, अनेक शरीर और अनेक अन्तःकरण
बने वैसे ही उसका अन्तःकरण उन और और अन्तःकरणों में भी
कार्य्य आरम्भ कर सक्ता है।

तत्रंध्यांनजमनाशयम् ॥ ६ ॥

उनमें जो चित्त ध्यान से उत्पन्न हुआ है वही रागद्वेष से
रहित होसक्ता है ॥ ६ ॥

पुनः यदि ऐसा सन्देह हो कि पूर्व्व कथित पांच प्रकार से
ही सिद्धि की प्राप्ति होती है तो क्या वे सबही ऐसी विभूतियों को
प्राप्त करलेते हैं अर्थात् क्या औषधि और मंत्र आदि के सिद्धि-
गण भी इसप्रकार के पूर्व्वोक्त-कार्य्य कर सक्ते हैं! इस भांति
के प्रश्न के उत्तर में महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि, जो अन्तःक-
रण ध्यान-सिद्धि अर्थात् समाधि से योग्यता को प्राप्त करता है वही
केवल ऐसा कर सक्ता है। अन्तःकरण की योग्यता की यदिच
पांच प्रकार की रीति है, तत्रच उनमें से जो अन्तःकरण स-
माधि-सिद्धि द्वारा योगयुक्त होजाता है, वह अन्तःकरण ही राग
द्वेष आदि वृत्ति से रहित होसक्ता है, क्योंकि क्लेशों के नाश
करने की शक्ति समाधि में ही होसक्ती है। इसकारण योग-
युक्त समाधिस्थ अन्तःकरण में जब पाप और पुण्य का भान,
सुख और दुःख का अनुभव, प्रवृत्ति और निवृत्ति का सम्बन्ध
छूटकर निर्मलता को प्राप्त करलेता है तबही उस में पूर्वोक्त उन्नत

सिद्धियों का होना सम्भव होसक्ता है। अर्थात् तवही वे मुक्त-योगी ईश्वर-शक्ति को प्राप्त करके ईश्वरेच्छा से जो चाहे सो करसकते हैं।

कर्मशुक्लाकृष्णंयोगिनस्त्रिविधमितरेषाम्॥७॥

अन्य लोगों के कर्म्म शुक्ल से लेकर कृष्ण तक तीन प्रकार के होते हैं; परन्तु योगियों के कर्म्म विलक्षण ही होते हैं॥७॥

पूर्व्व सूत्र में समाधिस्थ योगी के अन्तःकरण की अपूर्वता का वर्णन करके, अब इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार समाधिस्थ योगी के कर्म्मों की अपूर्वता का वर्णन कर रहे हैं। पूर्व्व यह कहही चुके हैं कि यदिच बहुत सी सिद्धियों की प्राप्ति जन्म आदि पांच प्रकार से हुआ करती है, परन्तु जो विलक्षणता समाधिस्थ-योगी के अन्तःकरण की होती है, वह और और सिद्धियों में नहीं होसक्ती; उसी प्रकार अब यह प्रमाणित किया जाता है कि जिस प्रकार के कर्म्म और और जीवगण करते हैं उस प्रकार से समाधिस्थ योगीगण नहीं करते, उनका कर्म्म कुछ विलक्षण ही होता है। सत्व, रज और तम त्रिगुण के भेद से साधारण जीवों से कर्म्म तीन प्रकार के हुआ करते हैं यथा—शुक्ल, मिश्रित और कृष्ण; सात्विक-मनुष्य अर्थात् पुण्यात्मागणों के कर्म्म शुक्ल-कर्म्म, राजसिक अर्थात् मध्यवर्ती मनुष्यगणों के कर्म्म मिश्रित-कर्म्म, और तामसिक अर्थात् अधम मनुष्यगणों के कर्म्म कृष्ण-कर्म्म कहाते हैं। इस ही त्रिविध गुण-विचार से लोकादि की भी सृष्टि हुई है यथा—शुक्ल-कर्म्म विशिष्ट स्वर्गलोक, मिश्रित-कर्म्म विशिष्ट भूलोक अर्थात् पृथिवी, और कृष्ण कर्म्म विशिष्ट

ताललोक है। यह जो कर्म्मों का विभाग है वह गुण-भेद से ही हुआ करता है, और वासना से ही संस्कारों की स्थिति होकर उनकी उत्पत्ति और स्थिति हुआ करती है; परन्तु योगीगणों में ऐसा नहीं होता, जब समाधि-साधन द्वारा उनका अन्तःकरण निर्मल होजाता है तो वासना-रहित होने से इन त्रिविधि कर्म्मों का नाम मात्र भी नहीं रहता, और उनके कर्म्मों की एक विलक्षण अवस्था होजाती है। अस्मिता से ही अन्तःकरण में संस्कारों का संग्रह हुआ करता है, अर्थात् अस्मिता के कारण ही जीवगण शरीर और अन्तःकरण आदि को अपना ही जानते हैं, इसकारण उनके किये हुए सब कर्म्मों का संस्कार उनके चित्तों पर रहजाता है, यही त्रिविधि-कर्म्म की सृष्टि का कारण है; परन्तु समाधिस्थ जीवनमुक्त महात्मागणों में ऐसा नहीं होता; अस्मिता के नाश से उनका अन्तःकरण नपुंसकता को प्राप्त होजाता है, और पुनः उनमें वासना का नाश होजाने से संस्कार संग्रह ही नहीं होसक्ते। समाधिस्थ महात्मागण सब कुछ करते हैं परन्तु उनके कर्म्म दग्ध-वीज की नाईं अङ्कुरोत्पत्ति के उपयोगी नहीं रहते; अर्थात् वे भी कर्म्म करते हैं परन्तु संस्कारावद्ध होने के कारण जैसे सब सवीज-कर्म्म जीव के पीछे लग जाते हैं, वैसे ही निर्वीज-कर्म्म होने के कारण कर्म्म-समूह उन योगियों को आश्रय नहीं कर सक्ते। भगवद्विभूतियों को धारण करने पर महात्मागण भगवत्रूप ही होजाते हैं; जैसे समस्त ब्रह्माण्ड भगवान् में स्थित है, ईश्वर ही ब्रह्माण्ड के कर्त्ता हैं परन्तु ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड का कर्म्म उनको आश्रय नहीं कर सक्ता; वैसे ही निष्कामी, जितेन्द्रिय, अस्मिताशून्य, जीवनमुक्त योगीगणोंका भी उनके किये हुए कोई कर्म्म आ-

श्रय नहीं कर सक्ते । इसकारण योगीगणों का कर्म्म करना कुछ विलक्षण ही है; चाहे उनके द्वारा शारीरिक-कर्म्म हो चाहे आध्यात्मिक, चाहे नाना विभूतियों, नाना ऐशी-सिद्धियों का प्रकाश उनके द्वारा क्यों नहो परन्तु इस विलक्षणता के कारण वह सब कर्म्म ही उनकी इच्छा-अनिच्छा से अर्थात् वह सबही भगवत् इच्छा से होता हुआ संसार का कल्याण करेगा, किन्तु उनको स्पर्श नहीं कर सकेगा ।

ततस्तद्विपाकानुगणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

नहीं तो कर्म्मों के फल के अनुसार वासना प्रगट होती है ॥ ८ ॥

योगियों के कर्म्मों की विलक्षणता कहकर अब इस सूत्र से महर्षि सूत्रकार कर्म्मों का कुछ विस्तारित विवरण कर रहे हैं । यह पूर्व्व कह ही चुके हैं कि कर्म्म तीन प्रकार के होते हैं; उन कर्म्मों में से जिस कर्म्म की प्रबलता होती है वही कार्य्यकारक होजाता है, अर्थात् यदि शुक्ल-कर्म्म प्रबल हुआ तो उस समय में मिश्रित और कृष्ण कर्म्म दबे रहेंगे और शुक्लकर्म्म का ही फल प्रकाशित होता रहेगा । पूर्व्व में दृष्ट और अदृष्ट कर्म्म-भेद से दो प्रकार की कर्म्म की गति का वर्णन विस्तारित रूपेण आचुका है; उसी प्रकार यहां भी समझना उचित है कि कर्म्मों की शक्ति के अनुसार कर्म्म के दो भेद हैं एक स्मृति और दूसरा संस्कार; स्मृति केवल स्मरण कराके वासना उत्पन्न करती है और संस्कार प्रबलता को धारण करके कार्य्यकारी होते हैं । इसप्रकार सत्त्व, रज और तमगुण

विशिष्ट शुक्ल, मिश्रित और कृष्ण-कर्म्म नवीन-वासना और नवीन कर्म्मों की सृष्टि करते हुए आगे बढ़ते रहते हैं; यही वासनारूप कर्म्म की अनन्तता है; इस ही भूलभुलैया से निकलना —त्र का असम्भव है; और निकलजाना ही मुक्ति कहाता है ।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्य्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

जो कर्म्म-वासना जन्म, देश और काल से व्यवहित हैं उनका भी क्रमपूर्व्वक उदय हुआ करता है, क्योंकि स्मृति और संस्कार से वे अभेद हैं ॥ ९ ॥

यह पूर्व्व ही कह चुके हैं कि कर्म्म की तीव्रता और मंदता के कारण जिस प्रकार कर्म्म दृष्ट और अदृष्ट हुआ करता है; उसी प्रकार शक्ति-भेद के कारण सब कर्म्म ही या तो स्मृति को प्राप्त करेंगे अथवा संस्कार को प्राप्त करेंगे; सब ही एक अवस्था को प्राप्त करते हैं परन्तु केवल कर्म्मों की शक्ति-भेद मात्र से यह अवस्था-भेद हुआ करता है । इसकारण महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि यदिच कर्म्मों में जन्म, देश और काल का भेद पड़जाने से वे अलग होजाते हैं; तत्रच उन में स्मृति और संस्कार-दृष्टि से ऐक्य रहने के कारण वे सब अपने क्रमके अनुसार उदय होतेही रहेंगे । इसके उदाहरण में ऐसा समझना उचित है कि यदि एक जीव गुण-भेद से शुक्ल अर्थात् देव-शरीर उपयोगी कर्म्म, मिश्रित अर्थात् मनुष्य योनि उपयोगी कर्म्म, और कृष्ण अर्थात् पशु आदि योनि उपयोगी कर्म्म संग्रह करता हुआ कर्म्माशय को भरता

जाता है; और जैसे ऊष्मता के प्रभाव से आकाश-स्थितवायु का तरल-अंश ऊपर और गंभीर-अंश नीचे होजाता है; वैसे ही कर्म्म की शक्ति के तारतम्य के कारण कोई कर्म्म प्रबल और कोई कर्म्म दुर्बल होता हुआ उन कर्म्मों में जन्म, देश और काल का अन्तर पड़ता जाता है तत्रच संस्कार तीव्र हो अथवा मन्द परन्तु संस्कार ही है, इसकारण वे अपने समय और क्रम पर उदय होते ही रहते हैं। एक जीव के साथ देव-योनि के कुछ कर्म्म, मनुष्य-योनि के कुछ कर्म्म और पशु योनि के कुछ कर्म्म सब ही उपस्थित हैं, परन्तु एक शरीर से दूसरे शरीर के ग्रहण समय तीव्र-संस्कार होने के कारण उसको मनुष्य जन्म मिला और तब उसको मिश्रित कर्म्मों का ही भोग होने लगा, और यदिच इन मिश्रित-कर्म्मों की प्रबलता के कारण उस जीव के और और शुक्ल और कृष्ण-कर्म्मों के साथ इन मिश्रित कर्म्मों का जन्म, देश और काल में बहुत ही भेद पड़गया, तत्रच जब कभी इस तरंग-क्रम से पुनः उसको देवता अथवा पशु-शरीर प्राप्त होवेगा तबही वे छिपे हुए शुक्ल अथवा कृष्ण-कर्म्म अपने अपने क्रम पर उदय होकर फल प्रकाशित करने लगेंगे। इसप्रकार संस्कार से स्मृति और स्मृति से संस्कार, और स्मृति के तरंग के अनन्तर संस्कार के तरंग और संस्कार के तरंग के अनन्तर स्मृति के तरंग उठते हुए जीव को अनादि और अनन्त कर्म्म समुद्र में बहाते रहते हैं; यही अनन्तसृष्टि का अनन्त विस्तार है।

तासामनादित्वञ्चाशिषोनित्यत्वात् ॥ १० ॥

वासना अनादि है; क्योंकि अपने कल्याण की इच्छा नित्य है ॥१०॥

यह पूर्व्व ही सिद्ध होचुका है कि जैसे तरङ्ग के घात प्रतिघात से अनन्त-तरङ्ग उठते हुए जलाशय को तरङ्ग-समूहों से आच्छादित कर देते हैं, और पुन. घातप्रतिघात से क्रमागत तरङ्ग उठते ही रहते हैं; वैसे ही वासना की उत्पत्ति होती हुई दृष्ट और अदृष्ट-कर्म्मों के घातप्रतिघात से जीव कर्म्म-श्रोत में बहता ही रहता है। परंतु यदि ऐसा प्रश्न उठे कि पूर्व्वापर सम्बन्ध रहने से अवश्य ही सब से प्रथम में जो वासना हुई थी उस वासना का कौन कारण रूप वासना थी ? इसप्रकार के प्रश्न के उत्तर में महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि वासना अनादि है, क्योंकि प्रत्येक जीव में अपनी कल्याण इच्छारूप वासना स्वाभाविक ही हुआ करती है; इसकारण वासना का अनादि होना सिद्ध होताहै (मैं सर्व्वदा रहूं,मेरा कल्याण हो) इसप्रकार की जो आत्म-आशीर्वादक वासना हुआ करती है, वह मनुष्य से लेकर पिपीलिका तक और मुमुर्षु वृद्धसे लेकर सद्यप्रसूत बालक तक में देखने में आती है; यदि विचारा जाय कि ऐसी स्वाभाविक सर्व्वव्यापक वासना का आदि कारण क्या है; तो विचारते विचारते यही पता लगेगा कि यह आत्मआशीर्वादक वासना अनादि ही है। इसकारण वासना को अनादि समझने से पूर्व्व उल्लिखित प्रश्न उठ ही नहीं सक्ता कोई कोई बुद्धिमानगण इसी प्रकार से सृष्टि का आदि कारण अर्थात् क्यों ईश्वर ने यह सृष्टि उत्पन्न की? ऐसा सन्देह उठाया करते हैं; दि वासना अनादि-सिद्ध होती है तो उन बुद्धिमानगणों का भी ह प्रश्न उठ ही नहीं सक्ता। जैसे दीपक जब घट में स्थापन किया जाता है तो उसकी ज्योति घट के आकाश को ही प्रकाशित करती है, परन्तु ज्योति व्यापक है इसलिये जब वह घट से बाहर निकाली

जायगी तबही वह फैल जायगी; ऐसे ही अन्तःकरण भी संकोच और विकाश को प्राप्त हुआ करता है। यह योगीगणों का ही मत है कि मन अर्थात् अन्तःकरण व्यापक है इसकारण अन्तःकरण की वासना भी व्यापक है; केवल गति के प्रभाव से वह संकोच और विकाश को प्राप्त हुआ करती है। जैसे प्रकृति अनादि है वैसे ही वासना अनादि है, जब वासना है तभी संसार है इसीप्रकार प्रकृति और वासना का अनादित्व सिद्ध होता है।

हेतुफलाश्रयालम्बनैःसंगृहीतत्वादेषामभा-वेतदभावः ॥ ११ ॥

हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन के द्वारा वह संगृहीत हुआ करती है, और इन सबके अभाव से उसका भी अभाव होता है ॥ ११ ॥

पूर्व्व सूत्र से यह सिद्ध ही होचुका है कि वासना अनादि है; इसकारण यदि ऐसा प्रश्न उठे कि अनादि-वासना का नाश कैसे हो सक्ता है? और जब वासना का नाश नहीं होगा तो मुक्ति भी होना असम्भव है? इसप्रकार के प्रश्नों के उत्तर में महर्षि सूत्र-कार कह रहे हैं कि यदिच वासना मूलकारण से अनादि है तत्रच वह हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन के द्वारा संगृहीत होती हुई आगे बढ़ा करती है; जब यही उसके संग्रह के कारण हैं तो इन के नाश से उस वासना का भी नाश हो सक्ता है। जिस प्रकार स्थूल-शरीर में जो चेतन है वह अजर और अमर है परन्तु चेतन का सम्बन्ध शरीर के साथ और शरीर का सम्बन्ध अन्न के साथ रहने से, यदि स्थूल-शरीर अन्न द्वारा पोषण किया

जाय तो यह चेतनयुक्त स्थूल-शरीर मृत्यु को प्राप्त हो जावेगा; ऐसेही यद्दिच वासना अनादि है तत्रच हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन द्वारा उसका पोपण होता है, यदि उसके पोषण का कारण निवृत्त होजायगा तो वह आपही नाश को प्राप्त होजायगी। वासना का हेतु अनुभव, अनुभव का हेतु रागादिक और रागादेकों का हेतु (मूलकारण) अविद्या है; इसीप्रकार वासना का फल शरीर आदि हुआ करते हैं; स्मृति और संस्कार उस वासना के आश्रय कहाते हैं; और बुद्धि ही आलम्बन है; इस प्रकार वासना अनादि और अनन्त होने पर भी वह हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन के द्वारा ही जीवित रहती है; परन्तु जब समाधि द्वारा इस वासना के पोपकगणों का नाश होजाता है तो उनके विरह से वह भी नाश को प्राप्त होजाती है। इसप्रकार वासना के नाश से कैवल्य की प्राप्ति हुआ करती है।

अतीतानागतस्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

भूत, भविष्यत, आदि स्वभाव से ही हैं, और वे गुणों से भिन्न भिन्न समझे जाते हैं ॥ १२ ॥

अब यदि ऐसा प्रश्न हो कि वासना और वासना-फल जो कार्य्य-कारण-भाव से रहनेवाले हैं और भिन्न भिन्न हैं वे कैसे एक होसक्ते हैं? अर्थात् अन्त करण जब प्रतिक्षण वासना की उत्पत्ति और लय से विनष्ट होता रहता है तो उसका एकही बना रहना कैसे सम्भव है? अथवा जब भूत वासना और भविष्यत्-

वासना में कार्य्य कारण-भाव सदा बना रहता है तो एकदम से वासना का नाश होना कैसे सम्भव है? इसप्रकार के प्रश्नों के उत्तर में महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि भूत, भविष्यत्, और वर्त्तमान्-काल गुण करके भिन्न भिन्न हैं, नहीं तो अन्तःकरण एक ही है और मोक्ष-पर्य्यंत वह एक ही बना रहता है; गुण-भेद मिटजाने से भविष्यत् और वर्त्तमान् काल भूत काल में रहजाते हैं, और तब ही मुक्तिपद का उदय होता है। बीतेहुए काल को भूत-काल कहते हैं अर्थात् जिसका अनुभव होचुका है; वर्त्तमान्-काल उसे कहते हैं कि जो अपनी क्रिया कर रहा है; और अनागत काल को ही भविष्यत्काल कहते हैं। इन तीनों वस्तुओं के ज्ञान में प्रथम ज्ञेय है, अर्थात् विना काल ज्ञान के किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता; परन्तु विचारने से ऐसा अनुभव होता है कि गुणी कोई अपूर्व्व-गुण की उत्पत्ति नहीं करता, एक ही गुण में अनेक गुण प्रकाशित हुआ करते हैं; और इसीप्रकार भूतकाल का गुण वर्त्तमान्काल में और वर्त्तमान्काल का गुण भविष्यत्काल में प्रकाशित होजाता है। इस सिद्धान्त से यही तात्पर्य्य है कि प्रत्येक काल प्रत्येक काल में उपस्थित है; अन्तःकरण कालभेद से गुण भेद को तबही अनुभव करता है जब कारण से कार्य्य की उत्पत्ति होती है; परन्तु यह अवस्था भेद और कुछ भी नहीं है किन्तु केवल भविष्यत् को भूतकाल का परिणाम समझना उचित है। यदि समाधि-साधन द्वारा ऐसा हो कि यह परिणाम हुआ ही न करे अर्थात् वर्त्तमान् और भविष्यत्काल भूतकाल में ही लय होजाया करें, तो जैसे दग्ध-बीज अङ्कुरोत्पत्ति के उपयोगी नहीं रहते, वैसेही वासना से वासना उत्पन्न करने की शक्ति गत-

वासना में ही लय हो रहेगी। इन परिणाम-क्रमों से यही सिद्ध हुआ कि मोक्ष-पर्य्यंत धर्म्मी धर्म्म के नानारूप को प्राप्त करने पर भी एक ही बना रहता है; अर्थात् अन्तःकरण यदिच नाना-वृत्तियों को धारण करता रहता है तत्रच कार्य्य-कारण-भाव से मोक्ष-अवस्था के प्राप्त-पर्य्यंत वह एक ही बना रहता है। और यह भी सिद्ध हुआ कि गुण-विकार-रहित होजाने से कालविकार भी रहित होजाता है, अर्थात् जब भूतकाल ही वर्त्तमान् और भविष्य-त्काल का उत्पादक है तो चित्त-विमुक्ति-अवस्था में जब भूतकाल से वासना का परिणाम होवेहीगा नहीं, तो आपहीआप वासना का पूर्णलय होजायगा। इसी अवस्था में अन्तःकरण पूर्णरूपेण मुक्त होजाता है; और इसी अवस्था से कैवल्यपद की प्राप्ति होती है।

तेव्यक्तसूक्ष्मागुणात्मानः ॥ १२ ॥

वे व्यक्त और सूक्ष्म-गुणवाले हैं ॥ १२ ॥

अब इस सूत्र में महर्षि सूत्रकार धर्म्म और धर्म्मी के स्वरूप को वर्णन कर रहे हैं। धर्म्म में वर्त्तमान् तीन मार्गों का विस्तारित विवरण पूर्व्व सूत्र में आही चुका है; पुनः कहा जाता है कि धर्म्म और धर्म्मी पूर्व्व कहीहुई रीति के अनुसार प्रत्यक्ष और सूक्ष्म-भाव से सत्व, रज और तम गुण के साथ उनके ही परिणाम और उनके ही स्वभाव को प्राप्त होते रहते हैं। क्योंकि सत्व, रज और तमोगुण से ही धर्म्मी उन सब भावों के रूप में ही जो बाह्य और अभ्यन्तर भेद से प्रकट होते हैं दिखाई दिया करते हैं; अर्थात् जो जिसका अनुगामी होता है वह उस के ही परिणाम

को प्राप्त होता है, जैसे मिट्टी के संग घट का सम्बन्ध; क्योंकि घट मिट्टी का ही परिणाम है। यह गुण-परिणाम ही धर्म्म का रूप है। अब धर्म्मी के एक होने का विस्तारित प्रमाण अगले सूत्रों में कहा जायगा।

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

परिणाम की एकता से वस्तु का तत्त्व जाना जाता है ॥ १४ ॥

पूर्व्व सूत्र में यह प्रमाणित हो चुका है कि सत्व, रज और तम यह तीन गुण ही सब कार्य्यों में कारणरूप से हुआ करते हैं। अब इस सूत्र में महर्षि सूत्रकार यह कह रहे हैं कि, यद्यपि गुण तीन हैं तथापि वे एक ही अंग आदि भाव को परिणाम रूप से धारण किया करते हैं; अर्थात् कभी सत्वगुण अंगी और रज, और तमोगुण अंग, कभी रजगुण अंगी और सत्व और तमोगुण अंग, और कभी तमोगुण अंगी और रज और सत्वगुण अंग हुआ करते हैं; ऐसे ही सब के परिणाम की एकता है। इस से यही तात्पर्य्य है कि एक गुण कभी स्वतंत्र-रूप से कार्यकारी नहीं होता, वे तीनों मिलेजुले ही रहा करते हैं; भेद इतना ही है कि जो गुण प्रधान होता है वही अंगी और उस समय और दोनों गुण अंग-रूप से दबे रहते हैं। इसके उदाहरण में विचारना उचित है कि जैसे पृथिवी में यादिच और चारों-तत्त्व भी मिश्रित हैं तत्रच प्रधानता के कारण पृथिवी, पृथिवी-तत्त्व ही है। पुनः विचारिये कि जैसे महत्व में सत्वगुण प्रधान होने के कारण रज और तमोगुण दबे रहते हैं, तदनन्तर महत् से अहंकार की उत्पत्ति होने पर नहीं सृष्टि का विस्तार होता है तो रज और तमोगुण क्रमशः प्रधके गत

..। प्राप्त होते हैं तब स्वतः ही सत्वगुण दब जाता है; इसी प्रकार तीनों गुण मिलेहुए ही चलते हैं और अपनी२ प्रधानता के कारण स्वतंत्र स्वतंत्र भाव को धारण करके स्वतंत्र स्वतंत्र संज्ञा को प्राप्त हुआ करते हैं। इन युक्तियों से यही विचार में आया कि सब ही गुण एक हैं, ये तीन गुण के तीन प्रकार के परिवर्त्तन ही परस्पर सहायक-भाव से एक ही कहे जा सक्ते हैं; क्योंकि इन में परि-णाम की एकता सिद्ध ही है।

वस्तुसाम्येऽपिचित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पंथाः ॥ १५ ॥

वस्तु की एकता में चित्त के भेद से धर्म्म और धर्म्मी का पथ भिन्न है॥ १५॥

धर्म्म और धर्म्मी के ज्ञानों का भाव भिन्न है। वस्तुओं में एकता होने पर भी अन्तःकरण-भेद के कारण उनमें भेद प्रतीत होने लगता है; यथा—किसी रूपलावण्यवती स्त्री को देखने से कोई तो सुख को प्राप्त होता है, कोई ईर्षा और लोभ आदि के वशीभूत होकर दुःख को अनुभव करता है, और कोई विचार-युक्त होकर वैराग्य-रूपी निरपेक्ष वृत्ति की सहायता लेता है; सुन्दरी-युवती एकही पदार्थ है परन्तु अन्तःकरण-भेद के कारण भोग लोलुप कामी उसे सुख का कारण मानता है, उसकी सौत उस स्त्री को देखकर दुःख को प्राप्त होती है, और संन्यासी उस ही एक पदार्थ को देखकर वैराग्ययुक्त हो उसकी ओर से मुंह फेर लेते हैं। इसीप्रकार से समझना उचित है कि प्रत्येकवस्तु

में कार्य्य-भेद से नानात्व प्रतीत हु संग घट का सम्बन्ध;
में बहु का भान होना ही सृष्टि की । गुण परिणाम ही
भेद न माना जाय तो जगत् की विलं विस्तारित प्रमाण
और यदि अन्तःकरण-भेद न माना जाय
जायगा । परन्तु यदि यही बात हो तो विच ॥ १७ ॥
सिद्ध होगा कि सत्व, रज और तमोगुण जैसे विषय में हैं,
र्थात् जैसे विषय त्रिगुणात्मक है, वैसे ही अन्तःकरण भी त्रिगुणात्मक है; उसको जो पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञान के धर्म्मादिक सहायकारी कारण हैं, अर्थात् उस धर्म्म के प्रादुर्भाव और तिरोभाव से अन्त करण भी उसी धर्म्म के रूप में भान होने लगता है। इसप्रकार से वस्तु की एकता होने पर भी अन्त करण-भेद होने के कारण उनके मार्ग में भी भेद पड़जाता है। पुरुष एक है और प्रकृति भी एक है परन्तु त्रिगुणमयी है, किन्तु प्रकृति के संग से पुरुष प्रकृति के भाव को धारण करके अन्तः-करण-विशिष्ट धर्म्मी होरहा है; अब प्रकृति त्रिगुणमयी होने के कारण प्रत्येक अन्तःकरण और अन्त करण के बहिर्विषय सब ही त्रिगुणमय हैं, इस कारण यदिच पूर्व्व प्रमाण से वस्तु की एकता होती है, तत्रच अन्त करण भेद के कारण-धर्म्म और धर्म्मी का मार्ग भी विभिन्न अनुभव होने लगता है।

न चैकचित्ततंत्रंवस्तुतदप्रमाणकंतदा किंस्यात् ॥ १६ ॥

एक चित्त के आधीन भी पदार्थ नहीं हैं, उनकी क्या अवस्था होती है जब वे उस से प्रमाणित नहीं होते ॥ १६ ॥

ता है; इसप्रकार

विषय से होते ही अन्तःकरण विषय की ओर खि[illegible] है । यदि
वत् होजाता है । जैसे लाल वस्त्र की ओर से जब दर्प[illegible] नहीं रह[illegible]
फिरा रहता है तो वह दर्पण अपनी स्वच्छता को प्र[illegible] हेतु-रहित
रहता है, परन्तु रक्त वस्त्र के सन्मुख दर्पण रखते ही दर्पण [illegible] स्वतः
रंग को धारण करलेता है; वैसेही अन्तःकरण और विषय के [illegible]
स्वतंत्र पदार्थ होनेपर भी अन्तःकरण अविद्या के कारण विष[illegible]
को देखते ही विषय के रूप को धारण कर लेता है; जैसे रक्त-वर्ण
की वस्तु अपना प्रतिविम्ब डालकर स्वच्छ दर्पण को लाल रंग
का कर डालती है, वैसेही विषय भी स्वच्छ अन्तःकरण में प्रति-
बिम्बित होकर अन्तःकरण को अपने रूप कासा ही कर डालते
हैं । जैसे दर्पण के सन्मुख लाल रंग रहने से दर्पण लाल हो
जाता है, और जब तक पुनः उसके सन्मुख से वह लाल वस्तु
हटाकर और कोई रंग की वस्तु न रक्खी जाय तब तक वह दर्पण
लाल ही रहेगा और दूसरे रंग को धारण नहीं करसकेगा; वैसेही
अन्तःकरण पर जिस विषय का प्रतिविम्ब पड़ा है अन्तःकरण
उस ही विषय को जानता है, और उस समय में जिनका प्रति-
विम्ब नहीं पड़ रहा है उनको वह नहीं जान सकता है; इसी
रीति से ज्ञेयरूपी वस्तु के प्रतिविम्ब होने और न होने से अन्तःक-
रण वस्तु ज्ञान और वस्तु-अज्ञान को प्राप्त किया करता है ।
अन्तःकरण व्यापक है; और पूर्व्व सूत्र से यह भी सिद्ध होचुका
है कि विषय अन्तःकरण से स्वतंत्र हैं; इसकारण यदि ऐसा सन्देह
उठे कि अन्तःकरण समस्त विषयों को एक ही समय में ग्रहण कर
सक्ता है, तो अब इस सूत्र के विचार से यह सन्देह नहीं उठ सक्ता
क्योंकि अन्तःकरण से जिस विषय का सम्बन्ध होजाता है अन्त-

उस विषय कोही ग्रहण कर सकता है। इस विज्ञान को
से भी इसप्रकार समझ सके हैं कि, पुरुष के प्रकाश से
तो अन्तःकरण प्रकाशित रहे और दूसरी ओर से जब वि-
प्रतिविम्ब उस अन्तःकरण रूपी प्रकाशित यंत्र में पड़े तब
को विषय का बोध होसका है; और पुनः उस प्रति-
का जो संस्कार अर्थात् दाग रहजाता है वही कर्म्म-संस्कार
है; और उस रहे हुए कर्म्म-संस्कार का पुनः अन्त करण
अनुभव होता है उसहीको स्मृति कहते हैं। परन्तु इतना अवश्य
धारना उचित है कि जब अन्तःकरण सावधान रहेगा और उस
विषय का सम्बन्ध होगा तब ही विषय का अनुभव अन्तःकरण
होसका है, और तब ही संस्कार और स्मृति का भी उदय
सक्ता है, नहीं तो कुछ भी नहीं होसका। इसकारण ज्ञेय-
वस्तु के प्रतिविम्बित होने से ही अन्तःकरण में वस्तु का ज्ञान, और
प्रतिविम्बित न होने से वस्तु का अज्ञान हुआ करता है।

सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोःपुरुषस्यापरि-णामित्वात् ॥ १८ ॥

वृत्तियों के स्वामी पुरुष सदा परिणाम रहित हैं इससे सब काल में ही
चित्त की वृत्तियां उनको ज्ञात रहती हैं ॥ १८ ॥

पूर्व्व सूत्रों में अन्तःकरण और विषयरूप-प्रकृति के विस्तार
का भलीभांति वर्णन करके अब इस सूत्र में महर्षि सूत्रकार जीव-
भावापन्न पुरुष का रूप वर्णन कर रहे हैं; और यह भी दिखा-
रहे हैं कि पुरुष सकल समय में एक रूप और परिणाम रहित हैं

इसकारण ही चंचल-स्वभाव अन्तःकरण की वृत्तियां उन्हें ठीक ठीक ज्ञात हुआ करती हैं। यदि विपरीत विचार से ऐसा विचारा जाय कि अन्तःकरण के सदृश अन्तःकरण के स्वामी जीवात्मा भी परिणामी हैं, अर्थात् जैसे विषय के संग और वृत्तियों के प्रभाव से अन्तःकरण नाना भावों को धारण करता रहता है, वैसे ही यदि जीवात्मा भी चंचल होते रहते; तो यह निश्चय ही है कि उनकी ज्ञान-वृत्ति में भी फेर पड़जाता; और ऐसा होने से चित्त की वृत्तियां यथावत् जानी नहीं जासक्ती थीं। परन्तु जब देखने में आता है कि अन्तःकरण की वृत्तियां यथावत् ज्ञात होती रहती हैं, तब यह प्रमाणित ही है कि जीवात्मा रूप पुरुष में कोई भी विकार होना सम्भव नहीं; क्योंकि यह अन्तःकरण के स्वामी पुरुष के परिणाम-रहित होने का ही कारण है कि जिससे अन्तःकरण की वृत्तियां यथावत् ज्ञात होती रहती हैं। सत्व-रूपी चैतन्य सदा अपरिणामी और एकरस हैं; उनके नित्य एक रूप अधिष्ठान से अन्तरंग में निर्म्मल सत्व सदा विराजा करता है; क्योंकि नित्य-वस्तु के गुण भी नित्य होते हैं, इसकारण वह सत्वरूपी प्रकाश सदा एकरूप रहने से वहां जो कुछ होता रहता है वह भी यथावत् दिखोई दिया करता है। इस विज्ञान को और प्रकार से भी ऐसे समझ सक्ते हैं कि जब अन्तःकरण प्रकृतिमय है तो अन्तःकरण जड़ ही है, जड़ में चेतन-सत्ता हो ही नहीं सक्ती; पुरुष-रूपी चेतन का ही रूप ज्ञान है, उनके ज्ञान-रूप प्रकाश से अन्तःकरण जब प्रकाशित होता है तब ही अन्तःकरण में चेतना आजाती है; वृत्तियां अन्तःकरण की तरंग हैं और ज्ञान अचंचल सदा एकरूप रहनेवाले पुरुष का प्रकाश है; इसकारण अन्तः-

करण चंचल रहनेपर भी पुरुष सदा अचंचल होने के कारण अन्त -
करण की सब वृत्ति रूपी तरंगें यथावत दिखाई देती रहती हैं ।
इसकारण यह सिद्ध हुआ कि अपरिणामी एकरूप रहनेवाले पुरुष
के प्रभाव से ही अन्तःकरण की नाना वृत्तियां यथावत् ज्ञात
हुआ करती हैं ।

नतत्स्वाभासंदृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

चित्त स्व-प्रकाश नहीं है क्योंकि वह भी दृश्य अर्थात् ज्ञेय है ॥ १९ ॥

पूर्व्व सूत्र से यह तो सिद्ध ही हो चुका है कि सदा अपरि-
णामी-पुरुष अन्तःकरण से भिन्न ही हैं; अब इस सूत्र द्वारा महर्षि
सूत्रकार विस्तारित रूपेण कह रहे हैं कि अन्तःकरण में कोई अ-
पनेआप प्रकाश करने की शक्ति नहीं है, वह पुरुष द्वारा ही
प्रकाशित होता है; और इसकारण ही वह पुरुष का दृश्य अ-
र्थात् ज्ञेय है । जैसे इन्द्रियां और तन्मात्रा आदि अन्तःकरण से
जाने जाते हैं इसकारण वे स्व प्रकाश नहीं कहा सक्ते; वैसे
ही अन्त करण भी पुरुष द्वारा ज्ञात होता है, इसकारण वह भी
स्व प्रकाश नहीं है । जैसे प्रकाश रहित अग्नि अपने स्वरूप को
प्रकाशित नहीं कर सक्ती, वैसे ही अन्त करण भी अपनेआप
प्रकाशित नहीं होसक्ता । प्रकाश्य और प्रकाशक के संयोग से ही
प्रकाश देखाजाता है, स्वरूप मात्र में प्रकाशक नहीं देखाजाता;
पुरुष और अन्तःकरण में वही प्रकाश्य और प्रकाशक सम्बन्ध
है । इस का विस्तारित विवरण अगले सूत्र में किया जायगा ।

एकसमयेचोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

एक काल में दोनों का ज्ञान नहीं होता ॥ २० ॥

एकही क्षण में अन्तःकरण में दोप्रकार का ज्ञान होना असम्भव है, क्योंकि एक ही समय में अन्तःकरण और पदार्थ इन दोनों का बोध नहीं होसक्ता; यातो विषय-रूपी पदार्थ काही ज्ञानहोगा या अपने मन काही बोध एकसमय में होगा । यदि क्षणवाद-मतावलम्बीगण ऐसा कहैं कि जो उत्पत्ति है वही क्रिया है और वही कारक है, अर्थात् अन्तःकरण क्षणिक है; तो ऐसे प्रश्नों के उत्तर में यह कहा जासक्ता है कि यदि ऐसा होता तो एक चित्त दूसरे चित्त से और वह किसी और चित्त से संग्रहीत होता; परन्तु यदि एक चित्त किसी दूसरे चित्त का प्रकाशक माना जाय तो वह दूसरा चित्त एकही काल में अपने और पराये-चित्त को प्रकाशित करेगा, परंतु इस सूत्रोक्त युक्ति से यह असम्भव है; इसकारण ऐसा प्रश्न उठही नहीं सक्ता । पूर्व्व सूत्रोक्त विचार के दृढ़ करने के अर्थ और भी विचार कर सक्ते हैं कि जब पूर्वोक्त दो व्यापारों को उत्पन्न करके उनके फल-ज्ञान से चित्त बहिर्मुख होकर विस्तारित होजाता है उस अवस्था में जान सक्ते हैं कि, बुद्धि का ज्ञान ही सुख अथवा दुःख अनुभव का हेतु है; "मैं इस सुख अथवा अमुक दुःख का भोगनेवाला हूं" इस ज्ञान का दायक बुद्धिज्ञान नहीं है, क्योंकि सुख और दुःख परस्पर में अत्यन्त विरोधी हैं, और वे एक काल में अनुभव हो ही नहीं सक्ते, परन्तु चित्त की वृत्तियों में सुख और दुःख की परीक्षा एक काल में हुआ करती है, इसकारण चित्त अर्थात् अन्तःकरण एककाल में दो विरुद्ध-धर्म्मवाली वृत्तियों की परीक्षा जब नहीं कर सक्ता था तब यह कैसे हुआ; इसकारण यह और भी प्रमाणित हुआ कि इस विचार देनेवाला कोई और ही है, अर्थात् अन्तःकरण

स्वयं-प्रकाश नहीं है; उसको प्रकाश करनेवाला कोई और ही है जिससे इन अवस्था-भेदों का अनुभव होता है; वह अन्तःकरण के प्रकाशक अन्तःकरण से भिन्न सचेतन पुरुष है। इस सूत्र कथित विचार से प्रथम में स्वपक्ष और विपक्ष विचारों का सिद्धांत करके पुनः अब और भी विचार कर सक्ते हैं कि अन्तःकरण द्वारा विषय अनुभव होता है और पुरुष के द्वारा अन्तःकरण अनुभव होतां है; जब कहा गया कि "कमल पुष्प अति सुन्दर है" तब कमल-पुष्प को अन्तःकरण ने अनुभव किया; और जब कहा कि "मेरा मन आज ठीक नहीं है" तब अन्तःकरण के अनुभव का भान पुरुष कोही हुआ; परन्तु जब देखा जाता है कि यह दोनों प्रकार का भान ही स्वतंत्र स्वतंत्र है और इन दोनों का अनुभव एक समय में नहीं होसक्ता तो इस से पुरुष का स्वतंत्र होना ही निश्चय होता है।

चित्तान्तरदृश्यत्वेबुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गःस्मृति सङ्करश्च ॥ २१ ॥

जब चित्त को अनेक मानोगे तो बुद्धि में अति-प्रसंग-दोष और स्मरण-शक्ति में सङ्कर दोष होजायगा ॥ २२ ॥

पूर्वोक्त विचार को स्पष्ट करने के लिये महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि यदि अन्तःकरण को अनेक मानोगे तो बुद्धि में अति-प्रसंग दोष और स्मरण-शक्ति में सङ्कर दोष होजायगा; इस कारण ऐसा हो ही नहीं सक्ता। जब ऐसा कहा जायगा कि एक-चित्त दूसरे चित्त से ग्रहण किया जाता है तो यह सिद्ध ही है

कि इसप्रकार पूर्व्वापर सम्बन्ध बद जायगा, अर्थात् एक चित्त को दूसरा चित्त ग्रहण करता है, दूसरे को तीसरा करता है और और तीसरे को चौथा करता है इत्यादि। जब एक अन्तःकरण दूसरे अन्तःकरण से ग्रहण कियाजाता है ऐसे माना जाय, तो एक बुद्धि भी दूसरी बुद्धि से गृहीत हुई; इसप्रकार बुद्धि में अतिप्रसंग दोष होजावेगा; इस ही विचार से अन्तःकरण की संख्या का पता लग ही नहीं सक्ता। जब अन्तःकरण का पता नहीं लग सक्ता तो ज्ञेय और ज्ञाता का कैसे पता लग सक्ता है; इस प्रकार मानने से स्मृति-शक्ति में भी विरोध पड़ेगा, और स्मृति का ठीक ठीक उदय होना असम्भव होजायगा; क्योंकि जिस विषय का संस्कार नूतन-रूपेण एक अन्तःकरण में रहेगा तब अतिप्रसंग-दोष होने के कारण एक से दूसरे स्थान पर उस संस्कार का स्मृति-रूपेण उदय होना सब समय में असम्भव होगा। जितनी बुद्धि उतने ही अनुभव होनेसे स्मरण-शक्ति आप ही नष्ट होजायगी; और दूसरे प्रकार से भी विचार कर सक्ते हैं कि रूप और रस आदिकों का ज्ञान उत्पन्न करनेवाली बुद्धि जब उदय होगी तब बुद्धि अनन्त होने के कारण स्मृति भी अनन्त होंगीं; जब कि अनेक-बुद्धि और अनेक-स्मृति एक काल में उत्पन्न होंगीं, तब यह परिज्ञात होना असम्भव होगा कि यह स्मृति रस सम्बन्धिनी है अथवा रूप-सम्बन्धिनी; तो इस अनुभव से यहांतक विप्लव होने की सम्भावना है कि जो अभी एक सत्वगुणावलम्बी योगी हैं दूसरे क्षण में वह घोर तमोगुणाश्रित नास्तिक हो जासकेंगे अर्थात् बुद्धि का और स्मृति का विस्तार बहुत होने के कारण पूर्व्वापर कुछ भी शृंखला नहीं रह सकी।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारपत्तौस्वबुद्धि संवेदनम् ॥ २२ ॥

चित् भावापन्न पुरुष के चंचलताशून्य होने से तदाकार अवस्था
में बुद्धि को अपने रूप का ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

पूर्व सूत्रों में महर्षि सूत्रकार यह सिद्ध करचुके हैं कि बुद्धि
स्वयंप्रकाश नहीं है; और नाना बुद्धियों की कल्पना भी नहीं
होसक्ती; इसकारण यदि जिज्ञासुगणों को सन्देह हो कि ऐसा
मानने से विषय-संवेदन कैसे होसक्ता है ? तो इसप्रकार के प्रश्नों
का उत्तर इस सूत्र में दिया जारहा है । पुरुष चैतन्य रूप हैं; और
उनकी चैतन्य-सत्ता में कभी भी भेद नहीं पड़ता; जैसे एक गुण
जब दूसरे प्रधान-गुण के अंग होते हैं तब उन अंगों में सङ्कर-भाव
अवश्य रहता है; परन्तु वैसे पुरुष के चैतन्य-भाव में भेद हो ही
नहीं सक्ता । जिस प्रकार प्रकृति चंचलता-विकार और विस्तार
को प्राप्त हुआ करती है, उस प्रकार चैतन्यरूपी पुरुष नहीं हुआ
करते; वे सदा एकरूप चैतन्ययुक्त रहते हैं, इस कारण उनकी चित्-
शक्ति के सन्मुख जब बुद्धि आजाती है अर्थात् अन्तःकरण स्थिर
होने से जब बुद्धि में पुरुष का प्रकाश यथावत् भासमान होने लगता
है, तब ही उसको अपने रूप का ज्ञान होजाता है और इसीप्रकार
से संवेदन होता है । इस विज्ञान को ऐसे भी समझ सक्ते हैं कि
भोक्ता अर्थात् पुरुष की शक्ति परिणाम-रहित है, परन्तु परिणामी
और चंचल-विषय में पुरुष की वृत्ति जाने से वह चंचल रहती है;
इसी कारण उस वृत्ति के संयोग प्राप्त होने से बुद्धि-वृत्ति की सम-
लता के कारण बुद्धि-वृत्ति से ज्ञान-वृत्ति भिन्न प्रतीत होती है ।

बुद्धि से परे पुरुष हैं अर्थात् बुद्धि से ही पुरुष का साक्षात् सम्बन्ध है इसप्रकार वेद और आचार्य्यगण कह ही चुके हैं; श्रीभगवान् वेदव्यासजी ने अलंकार की रीति पर कहा है कि ब्रह्म किसी स्थान-विशेष में बैठे नहीं हैं कि जीव इच्छा करते ही उनको देख लेवेगा; परन्तु केवल बुद्धि की निर्म्मलता सेही वे अनुभव किये जाते हैं। जब तक बुद्धि समल रहती है तब तक बुद्धि में प्रकाश की न्यूनता के कारण नाना विकार होते रहते हैं;परन्तु अन्तःकरण के ठहरजा ने से जब पुरुष के समीप बुद्धिभी तदाकार को प्राप्तहोजाती है तब बुद्धि को अपने रूप का ज्ञान होजाता है; अर्थात् स्थिरता और नि-र्मलता के कारण बुद्धि चैतन्य पुरुष के समीप होजाती है; तब उस बुद्धि में ईश्वर परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होता है। पूर्व्व सूत्र से यह प्रमाणित होचुका है कि अन्तःकरण पुरुष से भिन्न है; अब इस सूत्र में अन्तःकरण की ज्ञानशक्ति का वर्णन विस्तारित रूपेण कि-यागया है। पुरुष चैतन्ययुक्त और अपरिवर्तनशील हैं; वे केवल अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होकर अन्तःकरण को चैतन्ययुक्त अ-र्थात् प्रकाशित किया करते हैं, उसही शक्ति से अन्तःकरण पुनः विषयों के साथ युक्त होकर नाना वृत्तियों को धारण किया करता है। पुरुष के ही प्रतिबिम्ब से प्रकाशित होकर अन्तःकरण स्थित-बुद्धि चैतन्य-युक्त ज्ञान क्रिया किया करती है। पुरुष के इस प्रतिबिम्ब को साधारण रूपेण प्रतिबिम्ब न समझकर किन्तु यदि चुम्बक पत्थर की भांति आकर्षण-शक्ति विशिष्ट प्रतिबिम्ब समझा जाय तो विचारने में सहायता पड़ेगी; अर्थात् जैसे जैसे बुद्धि निर्मल होती जाती है वैसे वैसे ही पुरुष बुद्धि को अपने समीपवर्त्ती करते हुए उस में अपना रूप विकाशित किया करते हैं।

द्रष्टृदृश्योपरक्तंचित्तंसर्वार्थम् ॥ २३ ॥

विषय और विषयी के उपरान्त चेतन और अचेतन रूप चित्त है ॥२३॥

जैसे स्फटिक अथवा दर्पण जो निर्मल होते हैं, वेही प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में समर्थ हुआकरते हैं, वैसेही रज और तमोगुण से रहित शुद्ध सत्वगुण युक्त अन्त करण होने के कारण बुद्धि निर्मल होकर प्रतिविम्ब को यथार्थ-रूपेण ग्रहण कर सक्ती है। इस से ऐसा समझना उचित है कि जब रज और तमोगुण शुद्ध-सत्वगुण में लय होजाते हैं, तब निर्वात प्रदीप की भांति अचल बुद्धि सदा एकरूप रहकर भगवत्-रूप दर्शन में समर्थ रहती है; और उसकी यह स्थिर अवस्था मुक्तिपद में पहुँचने तक बनी रहती है। परन्तु अन्तःकरण की विपरीत-अवस्था यह है कि जब अन्तःकरण इन्द्रियों के द्वारा विषय के साथ सम्बन्ध स्थापन करके विषयवत् होजाता है; जैसे स्फटिकमणि लाल रंग के सन्मुख रहने से लाल रंग कीसी प्रतीत होती है, वैसेही अन्तःकरण विषय में फँसने से विषयवत् जड़रूप प्रतीत हुआ करता है। अन्त करण की एक चेतन अवस्था यह है कि जब अन्तःकरण शुद्ध होकर भगवत् दर्शन करता है; और अन्तःकरण की दूसरी अचेतन-अवस्था यह है कि जब अन्त करण विषय में फसकर जड़ होजाता है। अन्त करण एक बीच का स्थान है जिसके एक ओर पुरुष और दूसरी ओर विषय है, दोनों से सम्बन्ध रखता हुआ अन्त करण ही सृष्टि कार्य्य में प्रवृत्त रहता है; पितामह ब्रह्मा जैसे चतुर्मुख धारण करके सृष्टि किया करते है, वैसेही मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार इन चारों अंगों को धा-

रण करके अन्तःकरण भी सृष्टि-कार्य्य में लगा रहता है; परन्तु वही अन्तःकरण जब नीचे की ओर विषय में फँसता है तब अचेतन होजाता है, और जब योग-साधन-रूप पुरुषार्थ से ऊपर की ओर देखकर नीचे के मल से उसे उपराम होजाता है तब ही वह चेतनयुक्त होकर परमात्मा के दर्शन में समर्थ होता है।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमऽपिपरार्थंसंहत्य कारित्वात् ॥ २४ ॥

इसकारण चित्त असंख्य वासना-युक्त होने पर भी दूसरे के ही निमित्त है, क्योंकि वह दूसरे से मिलकर ही कार्य्य करता है ॥ २४ ॥

यदिच पूर्व्व सूत्र से यही सिद्ध हुआ कि अन्तःकरण ही सब कुछ किया करता है इससे पुरुष की आवश्यकता में यदि जिज्ञासुओं को सन्देह हो, इसकारण इस विज्ञान को और भी स्पष्ट करने के अर्थ महर्षि सूत्रकार ने इस सूत्र का आविर्भाव किया है। अन्तःकरण संख्यातीत वासनाओं से युक्त होने पर भी वह जो कुछ करता है सो सब सेवक के समान दूसरे अर्थात् प्रभु के अर्थ ही करता है; जब पूर्व्व विचारों से यह सिद्ध ही होचुका है कि प्रकृति जो कुछ करती है वह पुरुष के भोगार्थ ही करती है, तब यह निश्चय ही है कि अन्तःकरण जो कुछ वासना करता है वह पुरुष के अर्थ ही करता है; यथार्थतः उस कार्य्य में उसकी स्वार्थकता कुछ भी नहीं है। पूर्व्व विचार से यह अनुभव में आचुका है कि यदिच नाना-रूपधारी अन्तःकरण नाना भोगों की उत्पत्ति किया करता है, तत्रच वह जो कुछ कर सक्ता है वह दूसरे से मिलकर

करसक्ता है; और जो कुछ करता है सो पुरुष के भोगसाधन के ' ही करता है; अन्तःकरण और कुछ नहीं है केवल पुरुष का भोग साधक ही है । जैसे शैय्या, आसन आदि पदार्थ गृहस्थ के भोग अर्थ ही हैं, वैसे ही अन्तःकरण का कार्य्य भी पुरुष के भोग-अर्थ ही है, अन्तःकरण जड़ है वह जो कुछ कार्य्य करता है सो पुरुष के चैतन्य से युक्त होकर ही करता है, इस कारण उसका जो कुछ कार्य्य है सो अपने प्रभु पुरुष के अर्थ ही है । महर्षि सूत्रकार ने जो "चित्त,, शब्द का प्रयोग किया है उस से अन्तःकरण से ही तात्पर्य है;' जैसे महर्षि कपिल ने प्रकृति-शब्द का प्रयोग सांख्यदर्शन में बहुधा किया है वैसे ही चित्त शब्द का प्रयोग महर्षि सूत्रकारजी ने इस शास्त्र में जहां तहां किया है । वह चित्त अर्थात् अन्तःकरण और कुछ नहीं है केवल वासनाओं का आगार है; वह और कुछ नहीं है केवल पुरुष का भोग उत्पादक-स्थान है; वह अन्त करण पुरुष के अर्थ ही है ।

पूर्व सूत्रों में महर्षि सूत्रकारजी नाना वैज्ञानिक विचारों का निर्णय, अन्तःकरण और पुरुष का रूप और उभय की स्वतंत्रता आदि का विशेष वर्णन करके अब अगले सूत्रों में कैवल्य-पदरूपी योग के लक्ष का विस्तारित वर्णन करेंगे । शुद्ध मुक्त चेतनयुक्त पुरुष यदिच अन्त करण से अलग हैं, तत्रच अन्तःकरण से सम्बन्ध स्थापन करके अपनेआपको अन्त करण माने-हुए उस अन्तःकरण को प्रतिविम्बित किया करते हैं, यही पुरुष के फँसने काभी कारण है; और यदिच अन्तःकरण पुरुष से स्वतंत्र है तत्रच वह जो कुछ करता है सो पुरुष के भोग-अर्थ ही करता है; इससे यह भी सिद्ध होता है कि पुरुष को

फँसानेवाला अन्तःकरण ही है, और अन्त करण ही विषय के साथ पुरुष का संयोग किया करता है। इन सिद्धान्तों से महर्षि सूत्रकारजी ने ऐसा विचार किया है कि जबतक पुरुष का और अन्त करण का यथार्थरूप, दोनों का सम्बन्ध, और दोनों की स्वतंत्रता का ठीक ठीक जिज्ञासुगणों के सन्मुख वर्णन न किया जायगा, तब तक पुरुष की मुक्त अवस्था अर्थात् कैवल्यपद का मर्म यथावत् समझ में नहीं आवेगा; इसकारण महर्षिजी पहले उन का विस्तारित वर्णन करके अब अगले सूत्रों में कैवल्यपद का विस्तारित वर्णन करेंगे । यादिच इनका विवरण पहले भी कुछ कुछ आचुका था तत्रच कैवल्यपद के विरुद्ध में पुरुष से उन अवस्थाओं का साक्षात् सम्बन्ध रहने से, उन विघ्नों का प्रथम वर्णन करके अब योग साधन के लक्ष, मुक्ति रूपी कैवल्यपद का वर्णन होगा, पहले प्रतिकूल अवस्था दिखाकर पीछे से अनुकूल स्वाभाविक अवस्था दिखाने से वह शीघ्र समझ में आजायगा, इसकारण ही पहले उनका विस्तारित रूप दिखाकर अब मुक्ति-पद रूपी कैवल्य का रूप दिखाया जावेगा ।

विशेषदर्शिनआत्मभावभावनाविनिवृत्तिः॥२५॥

विशेषदर्शी को शरीर भावों की भावना की निवृत्ति होजाती है ॥ २५ ॥

साधारणदर्शी अर्थात् जीव, विशेषदर्शी अर्थात् योगी । साधारण जीवगण जैसा संसार को अनुभव करते हैं वैसा योगी-गण, इस असार संसार को नहीं समझते, आत्मदर्शी योगीगण पूर्व्वकथित रीति के अनुसार संसार को कुछ और ही देखते हैं; इसकारण वे विशेषदर्शी कहाते हैं । योग साधन द्वारा अन्त करण-

निर्म्मल होजाने से जब योगी में पूर्णज्ञान का उदय होता है वे इस ज्ञान पर भलीभांति आरूढ़ होजाते है कि "चित्त और दोनों स्वतंत्र हैं," इसप्रकार के ज्ञान का उदय होने से उन के अन्तःकरण की असम्भावना निवृत्त होजाती है, और तब वे अन्तःकरण को यन्त्ररूप और पुरुष को कर्त्ता समझने लगते हैं; इसप्रकार शनैःशनैः योगीराज की शरीर-भावना निवृत्त होजाती है। श्रीभगवान् वेदव्यासजी ने कहा है कि जैसे वर्षाऋतु में नव-नीरद पतित वारिविन्दु से जब नवदूर्व्वादल अङ्कुरित होने लगते हैं, उस समय उन दूर्व्वादलों की पुनरुत्पत्ति से उनकी सत्ता अर्थात् उनके मूल नष्ट न होने का अनुभव होने लगता है; वैसे ही मोक्षमार्ग को समझनेवाले, प्रकृति पुरुष का भेद जानने वाले योगीगणों के अन्तर और वहिर्भावों से वे पहँचाने जाते हैं। प्रकृति पुरुष को स्वतंत्र अनुभव करलेने से उनका देहाध्यास अर्थात् शरीर आदि बहिर्जगत् से सम्बन्ध रहित होजाता है, संसार को वे तुच्छ और मिथ्या समझते हैं, और परमात्मा को ही केवल सत्य और नित्य कर जानते हैं; इसकारण परमात्मा विषयक-ज्ञान और भगवत् कथाओं में ही तब उनकी एकमात्र रुचि रहती है। जब महात्मागणों को ऐसा पाया जाय कि उनकी अन्तःकरण की वृत्ति आत्मज्ञान विचार, तत्त्व-उपदेश, भगवत्-गुणगान और भगवद्-महिमा-प्रचार में ही सदा लगती है, जब योगी-गणों में ऐसा पाया जाय कि मोक्षमार्ग-वर्णन और भगवत्-गुण-श्रवण अथवा गान करते करते उनका शरीर रोमांचित होने लगता है, परमानन्द रूपी भगवद्भाव के स्मरणमात्र ही से जब आनन्द अश्रु उनके नेत्रों में बहने लगते हैं; तबही समझना

उचित है कि उन महात्मागणों में परमानन्दमय परमात्मा की ज्योति प्रकाशित हुई है; तवही समझना उचित है कि वे महात्मा गण माया के अधिकार से बचकर परमेश्वर परब्रह्म के सत्चित् आनन्दमय अधिकार में पहुंच गये हैं । इस ही अवस्था में पहुंच- कर योगी कैवल्य रूपी मुक्तिपद का अधिकारी होजाता है, इस ही अवस्था में पूर्णज्ञान के उदय से योगी जानने लगता है कि "मैं कौनथा, कौन होगया था, अब कौनहूं और मुझे कहां पहुं- चना है"! यही अवस्था योगी की विशेष दर्शन अवस्था कहा- ती है; इसही अवस्था में अविद्यारूपी भ्रमज्ञान का नाश होकर योगी दिव्य-ज्ञान को प्राप्त करके, चित्त धर्म्म से उपराम होते हुए कैवल्य भूमि में पहुंच जाते है । अर्थात् जब योगी जानलेते हैं कि यह पुरुष हैं और यह अन्तःकरण; तब स्वतः ही उनका अनुराग परमपद की ओर बढ़जाता है; और तब उनकी दृष्टि संसार की ओर से एकबार ही फिर कर कैवल्य रूपी मुक्तिपद की ओर लगजाती है; परावैराग्य से अन्तःकरण की वृत्तियां जब उठती ही नहीं तब अन्तःकरण आपही शान्त होजाता है; तब ही पुरुष अपने स्वरूप को प्राप्त होजाते हैं ।

तदाविवेकनिम्नंकैवल्यप्राग्भारंचित्तम् । २६ ।

तब ज्ञान से पूर्ण चित्त कैवल्य की ओर युक्त होने लगता है ॥ २६ ॥

तब अर्थात् जब योगी विशेष दर्शी होता है, उस समय ज्ञान-पूर्ण चित्त होजाने से वह कैवल्य की ओर ही झुका रहता है। जो चित्त अर्थात् अन्तःकरण उस पूर्ण कथित अवस्था से पहले नाना विषयों के भार से भाराक्रान्त हुआ २ दब रहाथा, वह

व विषय के नाश होजाने से हलका होकर ज्ञान रूप आकर्षण से खिंचकर कैवल्यपद-रूपी परमात्मा की ओर झुक जाता है। अर्थात् इस विज्ञान को ऐसे भी समझना उचित है कि अन्तः-करण के एक ओर विषय और दूसरी ओर परमात्मा हैं; जब तक अन्तःकरण विषय की ओर झुका रहता है तब तक उसकी दृष्टि पुरुष से फिरकर विषय रूपी संसार की ओर ही फँसी रहती है; परन्तु जब अन्तःकरण में विषय-वासना पूर्णरूप से मिटजाती है, तब उस विशेषदर्शी योगी का चित्त विषय से मुख फेर कर कैवल्यपदरूपी परमात्मा के स्वरूप की ओर ही अनिमेष होकर निहारने लगता है। तब ही चित्त कैवल्य-भोगी कहाता है।

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७॥

योगी के संस्कारों से इस समाधि-दशा में कभी कभी दूसरे ज्ञान भी होजाते हैं ॥ २७ ॥

इस समाधि अर्थात् कैवल्यपद की प्रथम-अवस्था में यद्यपि योगी ज्ञानपूर्ण होजाता है तथापि उसकी इस समाधि-दशा में अन्तः-करण में संस्कार के कारण भगवत्-भावना अर्थात् कैवल्य अनुभव के अतिरिक्त और दूसरे प्रकार के सृष्टि सम्बन्धीय मिथ्याज्ञान भी कभी कभी प्रकट हुआ करते हैं। यदिच वे सब योग-विघ्न हैं तथच योगी को वे कुछ विशेष हानि नहीं पहुंचा सक्ते, दग्ध-बीज की नाई वे सब संस्कार निस्तेज होजाने के कारण कार्य्यकारी नहीं हो सक्ते। समाधि में स्थित पुरुष को नाना पूर्व्व संस्काररूपी विघ्नों का जो विरथान रूप ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है, उसके विषय में यदि

ऐसा प्रश्न हो कि उनके हान का उपाय करने की आवश्यकता है या नहीं ? तो इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर अगले सूत्र में कहते हैं।

हानमेषांक्लेशवदुक्तं ॥ २८ ॥

इनका नाश भी क्लेशों के समान कहा है ॥ २८ ॥

जैसे पूर्व में अविद्या आदि क्लेशों के नाश का विस्तारित रूपेण वर्णन करचुके हैं, वैसेही इन संस्कारों के नाश को भी समझना उचित है। जिसप्रकार अविद्या-बीज के नाश से क्लेश पुनः उत्पन्न नहीं होते, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि से संस्कारों का बीज दग्ध होजाने से वे संस्कार समाधिस्थ-योगी के अन्तःकरण में पुनः नवीन संस्कार नहीं उत्पन्न करसकें: इसकारण उनसे कोई भय की सम्भावना नहीं।

प्रसंख्यानेप्यकुसीदस्यसर्व्वथाविवेकख्या-तेर्धर्ममेघःसमाधिः ॥ २९ ॥

पूर्ण ज्ञान के उदय से इच्छा रहित होकर योगी धर्ममेघ नामक समाधि का अधिकारी होता है ॥ २९ ॥

इसप्रकार पूर्व्व कथित रीति पर जब योगी विवेक की पूर्णता को प्राप्त करलेता है, और परावैराग्य के कारण उस पूर्ण ज्ञान की अवस्था में भी विरक्त अर्थात् इच्छा रहित बना रहता है, तबही पूर्व्व कथित संस्कार मिश्रित अवस्था भी पूर्णरूपेण जातीरहतीहै; और तबही योगी निश्चल, अद्वितीय भाव को प्राप्त करके ज्ञानरूप

होजाता है । इसही अवस्था का नाम महर्षि सूत्रकार ने धर्म्म-मेघ-समाधि रक्खा है; यही समाधि पूर्णज्ञान और सार्व्वभौम रूपी पूर्णधर्म्म का हेतु है; यह भूमि ही कैवल्यपद का द्वार रूप है; यह अवस्था ही परावैराग्य का फल है; इस अवस्था में और कोई योग-विघ्न शेष नहीं रहता; इस भूमि के अनन्तर ही कैवल्य-भूमि है ।

ततःक्लेशकर्म्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

तब क्लेश और कर्म्मों का नाश होजाता है ॥ ३० ॥

अब इस सूत्रद्वारा महर्षि सूत्रकार पूर्व्व कथित धर्म्ममेघ-समाधि से जो कुछ फल की प्राप्ति होती है, उसका विस्तारित वर्णन कर रहे हैं । अर्थात् इस धर्म्ममेघ-समाधि के लाभ करने से पूर्व्व कथित जीव के सब क्लेश और सब कर्म्म स्वतःही नष्ट होजाते हैं । और तब कर्म्म और क्लेश के नाश से योगी जीवन-मुक्त होजाता है । क्लेश और कर्म्म का विस्तारित वर्णन, और महात्मागणों की जीवन-मुक्ति-अवस्था का विस्तारित विवरण पूर्व्व ही भलीभांति आचुका है; इसकारण यहां उनकी पुनरुक्ति नहीं कीगई । इस जीवन-मुक्त-अवस्था को प्राप्त करके योगीगण पूर्णरूपेण माया बन्धन मुक्त होजाते हैं; इस समय में वे सब कुछ करते हैं परन्तु कुछ भी नहीं करते ।

तदासर्वावरणमलापेतस्यज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

जब आवरण-रूपी-मल दूर होजाता है तब उस ज्ञान में उसके जानने योग्य विषय कम रहजाता है, अर्थात् नहीं रहता है ॥ ३१ ॥

जब समाधिस्थ योगी के सब आवरण अर्थात् मल दूर होजाते

हैं, तब उसका अन्तःकरण अनन्तज्ञान से पूर्ण होजाता है। रज और तमोगुण शुद्ध सत्वगुण में पूर्ण रूपेण लय होजाते तब उस अन्तःकरण में ज्ञान विघ्नकारक और कुछ भी रहता; यही ज्ञान की अनन्त और पूर्णावस्था है। इस अवस्था में योगी को जानने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहता, अर्थात् जानने की इच्छा ज्ञान की पूर्णता के कारण लय होजाती है; परन्तु वह योगी की सर्वज्ञ अवस्था है, अर्थात् योगी तब जिस ओर दृष्टि फेरे उसी ओर सब कुछ देख सक्ता है। इन अवस्थाओं का विशेष वर्णन पूर्व्व में भलेप्रकार से आचुका है, इसकारण यहां उनकी पुनरुक्ति नहीं कीगई; केवल कैवल्यपद के वर्णन करने में जितने विवरण की आवश्यकता है उतना ही इंगितमात्र से दिखाया गया।

ततःकृतार्थानांपरिणामक्रमसमाप्ति गुणानाम् ॥ ३२ ॥

तब कृतार्थ गुणों के परिणाम-क्रम भी समाप्त होजाते हैं ॥ ३२ ॥

ऐसी पूर्व्वोक्त पूर्णज्ञान की अवस्था जब उदय होती है तब प्रकृति के सत्व, रज और तमोगुण का जो क्रम है वह भी समाप्त होजाता है। अर्थात् बन्धन-अवस्था में जिस प्रकार सत्व, रज और तमोगुण अपने भोगादि प्रयोजन को उत्पन्न करके परिणाम से अनुलोम विलोम भाव द्वारा सृष्टि स्थिति और लय क्रिया किया करते थे, उसप्रकार अब इस मोक्ष अवस्था में नहीं रहेगा; अर्थात् उन तीनों गुणों की शक्ति की हीनता और क्रम का लय होकर अब पुरुष त्रिगुण मुक्त होजाता है। यही पुरुष की अवस्था प्रकृति-वियुक्त अवस्था कहाती है।

क्षणप्रतियोगीपरिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

क्रम उसे कहते हैं जो क्षण क्षण में परिणाम को प्राप्त हो और परिणाम के अनुमान से जो जाना जाय ॥ ३३ ॥

पूर्व सूत्रार्थ को सरल करने के अर्थ अब महर्षि सूत्रकार क्रम का लक्षण वर्णन कर रहे हैं। अत्यन्त सूक्ष्म काल को क्षण कहते हैं, उस क्षण का जो प्रतियोगी-क्षण है, अर्थात् एक के पश्चात् दूसरा क्षण जो ग्रहण किया जाता है उसे क्षण का क्रम कहते हैं। अब इस में कई शंकाओं का उदय होसक्ता है, इस कारण उनकी निवृत्ति कीजाती है। वर्त्तमान् क्षण के पश्चात् जो काल में परिणाम होता है उस पूर्वापर गति को क्रम कहते हैं, इस से यदि ऐसी शंका हो कि जैसे वस्त्र का पुरानापन वस्त्र के अन्त में नहीं जाना जाता, वैसेही क्रम का लक्षण भी युक्ति विरुद्ध होसक्ता है। ऐसी शंका के उत्तर में कहा जासक्ता है कि अनित्य पदार्थ के क्रम में जैसी विरुद्धता पड़ती है, वैसी नित्य पदार्थ के क्रम में नहीं पड़ती, क्योंकि नित्य पदार्थों में नित्यता के कारण क्रम ठीक रीति से जाना जा सक्ता है। अब इस में भी शंका होसक्ती है कि पदार्थों में जो क्रम है वह नित्य कैसे होसक्ता है? इस शंका का समाधान ऐसे कर सक्ते हैं कि नित्यता दो प्रकार की है, एक कूटस्थ नित्यता और दूसरी परिणाम-नित्यता, कूटस्थ नित्यता पुरुष की है और परिणाम नित्यता गुणों की है। पुरुष की नित्यता में तो विचार ही नहीं है, परन्तु गुणों की नित्यता में इतना विचार है कि जब परिणाम में तत्त्व नष्ट नहीं होते तो उनको नित्य ही समझेंगे, जो

कार्य्य वा कारण रूप तत्त्व का नाश नहो वह नित्य ही है। पुनः यह शंका होसक्ती है कि जो परिणामी-वस्तु है वह कैसे नित्य होसक्ती है? इस शंका के उत्तर में ऐसा कहसक्ते हैं कि नित्यता गुणों में रहती है, और बुद्धि आदिकों में अन्तदशा से समझने योग्य क्रम रहता है; परन्तु नित्य-गुणों में जो क्रम रहता है उसका अन्त हो जाता है, गुणों की नित्यता के कारण वह परिणाम भी नित्य कहा जा सक्ता है। कूटस्थ अर्थात् विकार-रहित नित्य-पदार्थों में जो क्रम रहता है उनके क्रम की नित्यता में तो सन्देह ही नहीं, जो मुक्तजीव अपने रूप में स्थिर रहते हैं उनके जीव की विद्यमानता के क्रम से वह अवस्था जानी जाती है; क्योंकि जीव की नित्यता भी अन्त रहित होती है। अब यह शंका होसक्ती है कि संसार की स्थिति और लय से जो गुणों में क्रम रहता है उसकी समाप्ति होती है या नहीं? यह प्रश्न एकदेशीय है, इसकारण इसका उत्तर भी एकदेशीय होगा; गुण-क्रम से सृष्टि, स्थिति, लय क्रमानुसार हुआ ही करते हैं; सृष्टि के पश्चात् स्थिति, स्थिति के पश्चात् लय, और लय के पश्चात् पुनः सृष्टि होती आई है और होती रहेगी; परन्तु सिद्धान्त इतना ही है कि जिनकी विषय-सम्बन्धिनी-तृष्णा नष्ट होगई है वह ज्ञानवान् योगी पुनः उत्पन्न नहीं होंगे, उनके विभाग की त्रिगुणमयी प्रकृति क्रम सहित लय होजायगी। इन विचारों से यद्यपि बहुतसी शंकाएँ दूर होगईं तत्रच एक बड़ी शंका यह उठ सक्ती है कि यदि कूटस्थ की नित्यता और परिणाम की नित्यता दोनों मानी जायें तो इस संसार को अनन्त कहना उचित है अथवा शान्त; अर्थात् यह त्रिगुणमयी प्रकृति का खेल

यह सृष्टि-क्रिया नाशवान है अथवा नित्य है। यदिच यह शंका बहुत ही बड़ी और गहनतर शंका है, और ऐसी शंका जिज्ञासुगणों में प्रायः ही उठा करती हैं, और इस शंका से ही नाना मतों में विरोध होने लगता है, इस शंका से ही प्रायः मनुष्यों की बुद्धि में फेर पड़ने लगता है; तत्रच त्रिकालदर्शी महर्षिगणों ने कुछ भी नहीं छोड़ा है, जीव के हितार्थ वे सब कुछ कह गये हैं, केवल जो कुछ भूल, जो कुछ समझने में फेर; और जो कुछ वृथा शंकाएं उठती हैं वह जीव के अज्ञान से ही उठती हैं; यह अविश्वासी अधिकारीगणों के ध्यानपूर्व्वक शास्त्र न विचारने से ही उठती हैं। यदिच इस प्रश्न का विवरण कुछ पूर्व्व भी आचुका है तत्रच शंका समाधान के अर्थ यह कहा जा सकता है कि, कैवल्यपद भोगी एकयोगी के अंश में संसार की समाप्ति होजाती है, परन्तु और साधारण जीवों के अंश में उसकी नित्यता ही रहती है; जब जीव पुरुषार्थ करके अविद्या-बन्धन से मुक्त होजाता है तब उसके अंश की प्रकृति शान्त होकर महाप्रकृति में लय होजाती है; यही प्रकृति का अन्त होना है; यही संसार का नाश होना कहाता है। परन्तु एक योगी के अंश की प्रकृति यदिच लय को प्राप्त होजाती है, तत्रच अनन्त-रूपी अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्त जीवों की प्रकृति जैसी की तैसी ही अनन्त रहती है; यही प्रकृति की अनन्तता है, यही महामाया-रूपिणी महाशक्ति की नित्यता है। इसकारण यह भी कहना यथार्थ है कि संसार अनन्त है और यह भी कहना यथार्थ है कि संसार शान्त है; इस गम्भीर विचार से सृष्टि की नित्यता और अनित्यता दोनों ही स्पष्ट रूपेण सिद्ध हुईं। अथवा ऐसा भी कहसके हैं कि इस विचार से संसार को शान्त और अनन्त दोनों ही नहीं कहसके। और ऐसेही विचारसे सृष्टिको आदि अथवा

अनादि समझने में कठिनता भी पड़ती है; अर्थात् क्षण पर विचार करने से पूर्व्वापर क्षण ढूंढ़ते ढूंढ़ते आदि आदिक्षण भी प्रयोजन होगा। इसका विचार पूर्व में यद्यपि भांति आचुका है तथापि मूल-संदेह के निवारणार्थ यहां हाजाता है कि विचार से सृष्टि अनादि ही है • क्योंकि का कारण प्रकृति अनादि है; परन्तु गंभीर विज्ञान के प्रश्न से सृष्टि की उत्पत्ति और उसके साथ ही सृष्टि क दित्व सिद्ध करना ही पड़ता है; जहां हमको जाना है लेकर अपने निकट पर्य्यंत यदि पथ यथावत् अनुभव नहं तो कदापि गंतव्य स्थल को नहीं पहुंच सकेंगे। इसी प्रकार दोक्त विचारों पर जितनी बुद्धि लगाई जाती है उतना ही सि द्धांत होसका है कि कहीं भी मत विरोध नहीं है, शास्त्रों के कथन ने कहीं भी लक्ष को नहीं छोड़ा है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चिच्छक्तिरिति ॥ ३४ ॥

जिन गुणों की प्राप्ति में पुरुषार्थ की समाप्ति होजाय व्यापक गति से उन गुणों के नाश को कैवल्य कहते हैं; अर्थात् परमात्मा में जो स्वरूप की प्रतिष्ठा है उस आत्म-स्वरूप में स्थित होने को मोक्षरूपी कैवल्य कहते हैं ॥ ३४ ॥

मोक्ष और कैवल्य का एक ही भावार्थ है। जिन गुणों के फल-भोग जीव को हुआ करते हैं उन सृष्टिकारक गुणों को लय करके उन गुणों से उपराम होने को मोक्ष कहते हैं; अर्थात्

यह सू॰ त्रिगुणरूपी फन्दे से मोक्ष होना ही मोक्ष कहाता है।
बहुत के-स्वरूप-प्रतिष्ठा का अर्थ यह है कि बुद्धिरूपी अन्तः-
गणों के सम्बन्ध से रहित होकर जो केवल पुरुष का भाव है
में विरंध की स्वतंत्रता और वही पुरुष का निजरूप में अवस्थान
फेर प कहाता है। पूर्व सूत्र कथित अवस्थाओं में प्रवेश करता
नहीं योगी शेष में असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् निर्विकल्प-समाधि
जो अवस्था में पहुंच जाता है। यही अवस्था मोक्ष-अवस्था कहाती
उठ र यही कैवल्यपद है। इस दर्शन शास्त्रोक्त विज्ञान में पुरुष
आ प्रकृति की स्वतंत्र स्वतंत्र सत्ता और स्वतंत्र स्वतंत्र गति वर्णन
यां गई है। प्रकृति पुरुष के अर्थ ही क्रिया किया करती है, जब
कैवल्यपद के उदय होने पर पुरुष अपने रूप को प्राप्त होजाता
तब स्वत ही प्रकृति पुरुष का सम्बन्ध विच्छिन्न होजाने से
ति आप ही क्रियाहीन होकर लय को प्राप्त होजाती है।
ा अवस्था वेदान्त का अद्वैत भाव है, यही और शास्त्रों की
त्यन्त दु:ख निवृत्ति है। यही ज्ञानमार्ग का ब्रह्मसद्भाव है;
ी भक्तिमार्ग की पराभक्ति है; और यही इस शास्त्र का कैवल्य
। पुरुष का अपने रूप को प्राप्त होजाना, सृष्टि के पूर्व वे जो
। अब सृष्टि के लय में भी उनका वही होजाना अर्थात् अपने पूर्व-
रूप को ही प्राप्त करलेने को मोक्ष अथवा कैवल्य कहते हैं। इस
ज्ञानातीत परंतु पूर्णज्ञान की अवस्था को ही कैवल्य कहते हैं;
इस द्वैतभान रहित अद्वैत अवस्था कोही कैवल्य कहते हैं; इसी
अवस्था को प्राप्त करके जब अल्पज्ञानी जीव सर्वज्ञ ईश्वर साक्षा
त्कार द्वारा, जैसे समुद्र तरङ्ग समुद्र में ही लय हो जाते हैं, वैसे

ही जब ईश्वरभाव को प्राप्त हो ईश्वर ही में लय होजाता है, उस यत्परोनास्ति अवस्था कोही कैवल्य कहते हैं; यह वाक्, मन, बुद्धि से अगोचर-अवस्था ही कैवल्य कहाती है; यही कैवल्य-अवस्था सब साधनों का लक्ष है; यही कैवल्य अवस्था वेद का सिद्धान्त है और यही कैवल्य-अवस्था योगसाधन की चरमसीमा है ।

इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे
कैवल्यपादः चतुर्थः ।
ग्रन्थ समाप्तः ।

इति महर्षि पतञ्जलि मुनि कृत् योगसूत्र
के कैवल्य नामक चतुर्थ पाद का
निगमागमी नामक भाषा-
भाष्य समाप्त हुआ ।

ग्रन्थ समाप्त हुआ ।

ओं शान्तिः　शान्तिः　शान्तिः　हरिः ओं।

शुभसम्वाद ।

भारतीय साधुगण प्रतिष्ठित " निगमागम-मंडली " के प्रधान नियमों में से एक नियम यह है कि वेद और दर्शन आदि आर्ष ग्रन्थों को धर्म्म के निगूढ़तत्त्व प्रकाशार्थ भावपूर्ण, सरल, एवं हृदय-ग्राही भाषा-भाष्य सहित प्रकाशित किया जाय। सो इस भारत हितकारी नियम के अनुसार इस " योगदर्शन " के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थ समूह और मुद्रित हुए हैं। आशा है इनके प्रचार से धर्म्म जगत् को पूर्णशान्ति व कल्याण की प्राप्ति होगी।

नवीन दृष्टि में प्रवीन भारत !

[१]

इस ग्रन्थ में पृथिवी मंडल के अन्यान्य देशों से भारतवर्ष की प्राकृतिक श्रेष्ठता अकाट्य युक्तियों से सिद्ध कीगई है; तथा दार्शनिक व वैज्ञानिक प्रमाणों द्वारा भारत को ही धर्म-भूमि करके निरूपित किया गया है। और नवीन शिक्षा प्राप्त लोगों की दृष्टि में जो भारत की लघुता समा गई है उसका समाधान उन्हीं के पश्चिमी-गुरुगणों अर्थात् पश्चिमी विद्वानों के विचार-प्रमाण द्वारा भलीभांति किया गया है। इस पुस्तक के विषय में अधिक लिखना व्यर्थ है, इस प्रकार का भारत महिमा-प्रचारकारी ग्रन्थ आज तक किसी भाषा में प्रकाशित नहीं हुआ था-मूल्य सजिल्द २॥), विना जिल्द १)रु०।

भक्तिदर्शन ।

[२]

निगमागमी-भाष्य सहित ।

महर्षि शाण्डिल्य कृत भक्ति-सूत्रों पर अनिर्वचनीय प्रशंसा योग्य सरल व सारगर्भ अमूल्य भाषा भाष्य हुआ है। पुस्तक के प्रारम्भ में एक अति उत्तम व विस्तृत भक्ति प्रतिपादक भूमिका दीगई है। ऐसा अलभ्य-भाष्य पहले प्रकाशित नहीं हुआ था। विना पाठ करे इस ग्रंथ की महिमा का ज्ञान होना असम्भव है। मुमुक्षगण अवश्य ही इस अमृत का पान करें—मूल्य सजिल्द १॥, विना जिल्द १) रुपया।

गुरुगीता ।

[३]

इस में तंत्र शास्त्रोक्त गुरुगीता का अनुवाद व भावार्थ सहित [illegible] गया है; इसके अतिरिक्त गुरुपूजा-पद्धति, गुरुगीता-

माहात्म्य और भगवान् शंकराचार्य कृत मणिरत्नमाला भाषा-अनु
वाद सहित प्रकाशित किये गये हैं। पाठ उपयोगी मूल श्लोकों क
बड़े टाइप में छापा गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक अपूर्व वैज्ञानिक
भावपूर्ण भूमिका दी गई है जिसके द्वारा श्रीगुरुदेव सम्बन्धीय नाना
दार्शनिक भावों की पूर्ण सिद्धि की गई है । इस प्रकार का यह
नूतन ही ग्रन्थ है।)-मूल्य सजिल्द ॥), विना जिल्द ।)

[४] "निगमागम-चन्द्रिका प्रथम-भाग कलाब्दाः ४९९७

[५] "निगमागम चन्द्रिका द्वितीय-भाग कलाब्दाः ४९९८

इस नाम का एक ऋतुपत्र अर्थात् वसंत, ग्रीष्म आदि छहों
ऋतुओं के अनुसार प्रत्येक वर्ष के छह पत्र प्रकाशित होते हैं।
सो प्रत्येक वर्ष के प्रकाशित पत्र [**Magazine**] समूह एक-
त्रित होकर यह स्वतंत्र स्वतंत्र २ पुस्तक निर्माण हुए हैं। इन ग्रन्थों
में सनातन धर्मोक्त नाना विषयों पर वैज्ञानिक व दार्शनिक अका-
ट्य प्रमाण सहित सरल व हृदयग्राही भाषा-प्रबंध समूह प्रकाशित
हुए हैं; धर्म के प्रत्येक भावों को स्वतंत्र२ प्रबंध द्वारा पूर्णरूपेण
वर्णन किया गया है; इसप्रकार के गंभीर भावमय, सरल, हृदय-
ग्राही एवं अकाट्य-युक्तिपूर्ण धर्म्म-प्रबंध आजतक हिन्दीभाषा में
प्रकाशित नहीं हुए थे। सनातनधर्म्म का सार्व्वभौम रूप, सद्‌गति
एवं जीवन्मुक्ति, सदाचार, पुराणशास्त्र, भक्ति, दीक्षा, धर्म्म-प्रचार
हिन्दी-भाषा, आश्रम-धर्म्म सृष्टि एवं लय, साधन, आदि नाम के
अनेकानेक प्रबन्धों से यह ग्रंथ पूर्ण है। पाठ करने से ही इस प्रका
के अलौकिक लेखों का परिचय मिलसक्ता है, क्योंकि इन लेखों की
प्रशंसा शब्द द्वारा करना असंभव है—प्रत्येक भाग का मूल्य १॥)रु०

[६] योग-साधन चतुष्टय ।

प्रथम भाग ।

योग के क्रिया-सिद्धान्त को पूज्यपाद महर्षिगणों ने चार
भाग में विभक्त किया है यथा—हठ-योग, लय-योग, मंत्र योग और
राजयोग। प्राचीन देश, काल, पात्र के अनुसार पूर्व- विरचि

ग्रन्थ-समूहों में इन चारों मार्गों का वर्णन साम्मलित आया करता है; उससे वर्त्तमान देश काल पात्र के कारण उन मार्गों के समझने में कठिनता पड़ती है । इसकारण उपदेश-दाता एवं उपदेश गृहीता दोनों के कल्याणार्थ ही यह ग्रंथ प्रकाशित कियागया है । इस प्रथमभाग में हठयोग एवं लययोग का विस्तृत वर्णन स्वतंत्र स्वतंत्र रूप से किया गया है; [द्वितीयभाग में मंत्रयोग एवं राजयोग का वर्णन किया जायगा ।] और ग्रंथ के आरम्भ में साधन एवं अष्टांगयोग के नाम से दो अतिउत्तम एवं भाव-पूर्ण प्रबन्ध भी दिये गये हैं । जिस अपूर्व और लोक-उपकारी रीति पर यह ग्रन्थ प्रणयन किया गया है, सो केवल पाठ करने से ही विदित होसकता है । साधक मुमुक्षुगण अवश्य इस ग्रन्थ का पाठ करें—मूल्य सजिल्द २) रुपया और जिल्द रहित १।।) रु०

[७] गीतावली ।

प्रथम भाग ।

इस पुस्तक में संगीत की उत्पत्ति, संगीत का दार्शनिकतत्त्व साधन से संगीत का सम्बन्ध, राग रागिनियों का भेद एवं संगीत अनुरागी जन गणों के विदितार्थ सम्पूर्ण विषयों का वर्णन कियागया है । इसके उपरांत नाना राग रागिनियों के संयोग से विरचित प्रायः तीनसौ नूतन गीत हैं । इसप्रकार के वैज्ञानिक भाव-पूर्ण भजन इस से पहले हिन्दी-भाषा में कभी प्रकाशित नहीं हुए थे । संगीत अनुरागी और भगवत्-भक्तगणों के अर्थ यह ग्रन्थ बहुत ही आनन्ददायक है इसमें अत्युक्ति नहीं है—मूल्य सजिल्द १।।)रु० विना जिल्द १, रुपया ।

(८) सांख्य-दर्शन ।

(निगमागमी-भाष्य सहित) -महर्षि कपिल कृत सांख्य सूत्रों पर यह ज्ञान पूर्ण अमूल्य हिन्दी-भाष्य किया गया है । जड़चैत-न्यात्मक इस सृष्टि क्रिया को पूर्णरूपेण वर्णन करने में महर्षि कपिल ही पूर्ण काम हुए थे । ज्ञान सहायक एवं मुक्तिपथ दर्शक